निबन्ध-संग्रह

संकलनकर्ता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्रीकृष्ण लाल

काशिका समिति, हिन्दी विभाग

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस के लिये

प्रकाशक

कृतज्ञता प्रकाश

इस निबंध-संग्रह के निबंधों को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करके जिन सहृदय सज्जनों ने हमें अनुगृहीत किया है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना सुखद कर्तव्य समझते हैं। श्री महेंद्र जी, श्री प्रो० गोपाल लाल खन्ना, श्री पं० हरिशंकर शर्मा, श्री काका कालेलकर, श्री विद्या भूषण, श्री गंगा विष्णु पाण्डेय, श्री प्रो० गोकुल चंद्र शुक्ल श्री सुमित्रानंदन जी पंत, श्री प्रो० नंददुलारे बाजपेयी, डा० सुनीति कुमार चटर्जी, श्री धनंजय भट्ट, श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल, श्री महावीर प्रसाद मिश्र, श्री पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने आवश्यक अनुमति देकर इस निबंध-संग्रह को गौरवान्वित किया है। हमें समय पर कई अन्य विद्वानों की अनुमति नहीं प्राप्त हो सकी इसलिये कई निबंध इस संग्रह में नहीं जा सके। अनुमति प्राप्त होने पर अगले संस्करण में उन्हें दे दिया जायगा। हम हृदय से इन महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

प्रकाशक

भूमिका

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अभी सौ वर्ष का भी नहीं हुआ है। ईसा की १६ वीं शताब्दी के मध्य से जब हिन्दी प्रांत में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन बढ़ने लगा था, इस निबन्ध-साहित्य की नींव पड़ने लगी। हिन्दी का गद्य-साहित्य स्वयं भी उतना प्राचीन नहीं है—इसका प्रारम्भ १६ वीं शताब्दी के आरम्भ से माना जा सकता है। प्रारम्भ में गद्य साहित्य कथात्मक ही रहा जिसमें लेखक किसी धार्मिक अथवा लौकिक कथा के रूप में अपनी बात पाठकों तक पहुँचाया करता था। ये पाठक कौन हैं, कैसे हैं, उनकी रुचि क्या है—इसके सम्बन्ध में लेखक पूर्णतः अनभिज्ञ थे, क्योंकि लेखक और पाठक उस युग तक एक दूसरे से दूर और अपरिचित थे। इन दूर और अपरिचित पाठकों के लिये रोचक कहानी छोड़ और क्या लिखा जा सकता था, शायद इसीलिये इंशाअल्लाह खां के ध्यान में यह बात चढ़ी "कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले।"[1] परन्तु इंशा के साठ-सत्तर वर्ष पश्चात् १८७० ई० के आस-पास पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन से लेखक और पाठक एक दूसरे से परिचित होने लगे। प्रति सप्ताह, पक्ष अथवा प्रति मास लेखक और सम्पादक अपनी कोई बात लेकर, कुछ समाचार, संदेश, विचार अथवा भावना के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित होने लगे, इस प्रकार उनके बीच की दूरी निरन्तर कम होती गई और उनका परिचय बढ़ता गया। लेखक धीरे-धीरे जानने लग गए कि पाठकों की रुचि क्या है और उन्हें किस प्रकार का साहित्य देकर उनका अधिक से अधिक हित किया जा सकता है। इस निकट परिचय से लेखकों को अनुभव होने लगा कि 'तोता-मैना' तथा 'छबीली भठियारिन'—जैसी कहानियों से जनता का मनोविनोद तो किया जा सकता है, परन्तु उसका हित इन रोचक कहानियों से सम्भव नहीं है, वरन् तर्क और बुद्धिसंगत भाव-विचार-प्रधान लेखों के द्वारा ही पाठकों की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है। परन्तु उनके सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि इस प्रकार के भाव-विचार-प्रधान लेखों को किसी प्रकार आकर्षक और रुचिकर बनाना होगा नहीं तो पाठक उसे पढ़ेंगे ही

---

१. रानी केतकी की कहानी—उपक्रम पृ० २।

नहीं; अस्तु. भाव और विचार-शृंखला के साथ ही शैली की मनोरमता और रमणीयता की ओर ध्यान देना भी आवश्यक हो गया। अस्तु, भावों और विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ उसे ही निबंध-साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई।

निबंध-साहित्य लेखकों और पाठकों के निकट परिचय का साहित्य है जिसमें लेखक पाठकों से प्रत्यक्ष अपनी बात कहता है। साहित्य के अन्य सभी रूपों में लेखक स्वयं प्रत्यक्ष रूप से पाठकों के सम्मुख आकर अपनी बात यदि कहना भी चाहे तो नहीं कह सकता—महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि सभी में लेखक को किसी चरित्र अथवा पात्र की ओट लेनी पड़ती है। चाहे वह अपने सम्बंध में कुछ कहना चाहता हो अथवा युग और समाज, परिवार और व्यक्ति के—जिस किसी के विषय में उसे कुछ कहना होता है उसे किसी पात्र की ओट लेनी ही पड़ती है। परन्तु निबंध में लेखक को किसी ओट की आवश्यकता नहीं है, वह प्रत्यक्ष रूप से स्वयं जो चाहे पाठकों से कह सकता है।

अभिव्यक्ति की इस सहज सरलता ने निबंध को प्रचलित साहित्य-रूप तो अवश्य बना दिया, परन्तु सहज और सरल होने ही से निबंध में सर्वसाधारण को आकृष्ट करने की क्षमता का अभाव है। कहानी द्वारा पाठकों में कुतूहल वृत्ति जाग उठती है, वे 'आगे क्या हुआ' जानने के लिए सहसा उत्सुक हो उठते है; काव्य में एक लय, प्रवाह और छंदोभंगिमा के साथ शब्द और अर्थ का चमत्कार पाठकों को आकृष्ट करता रहता है, परन्तु निबंध में न तो कथा-कहानियों का कुतूहल है न काव्यों की स्वर-लहरी और अर्थ-चमत्कार। अस्तु, निबंधों की सबसे बड़ी कठिनाई पाठकों की वृत्ति उलझाये रखने की है। तर्क और बुद्धिसंगत विचार-शृङ्खलाओं के गूँथते जाने से निबंध तो अवश्य बन जाता है, परंतु उसे पढ़ने में पाठकों का मन कहाँ तक रम सकेगा इसका विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। तर्क और विचार की नीरस और शुष्क शृङ्खलाओं में यदि पाठक का मन न रमे, उससे भाग निकलने को मन व्याकुल हो जाय तो मन की चंचलता को कोसने से ही काम न चलेगा। निबंध यदि साहित्य का एक अंग है तो उसे मन रमाने की कला में प्रवीण होना ही चाहिए, जिसमें मन रमा नहीं वह और कुछ हो सकता है, साहित्य नहीं।

कुछ लोग कह सकते हैं कि मन रमाने की बात आधुनिक युग की एक 'चोंचलेबाज़ी' है नहीं तो प्राचीन काल के धार्मिक और दार्शनिक निबंधों में

मन रमाने की कौन सी कला थी। इसी भारत में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से प्रारम्भ कर ब्रह्मसूत्र के समान ही ऐसे-ऐसे निबंधों की रचना हुई है जिनमें न्याय और तर्क की प्रणाली पर बड़े-बड़े गम्भीर और जटिल तत्वों की मीमांसा की गई है और आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो भाष्यों और टीकाओं की सहायता से उन निबंधों के पढ़ने और समझने का प्रयत्न करते हैं। ठीक है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु उन निबंधों से आज के निबंधों की तुलना करना ही ठीक नहीं है। हमारे उन प्राचीन सूत्रों और निबंधों में ब्रह्म, आत्मा, माया, धर्म और ज्ञान-विज्ञान जैसे व्यापक और जिज्ञास्य तत्वों की मीमांसा होती थी, परन्तु आज इन जटिल तत्वों के स्थान पर प्रतिदिन के जीवन की साधारण छोटी और बड़ी बातों को लेकर निबंध लिखे जाते हैं। आधुनिक युग में भी ब्रह्म, माया, ज्ञान आदि विषयों पर कुछ निबंध अवश्य लिखे गये हैं, परन्तु अधिकांश निबंधों के विषय— दांत, भौं, लोभ, क्रोध, करुणा, कविता, आत्मगौरव, आत्मनिर्भरता, राजभक्ति, भागते भूत की लंगोटी, सच्ची वीरता, कछुआ-धर्म, संतोष, मसहरी, आप क्या करते हैं, मन की मौज आदि हैं और इन सामान्य विषयों पर लिखे गये निबंधों में केवल जिज्ञासा की दुहाई देकर मन रमाने की बात सोचना भी व्यर्थ है। इन निबंधों के पढ़ने में यदि हम जिज्ञासु की भांति समाधिस्थ न हो सकें तो इसमें न तो कोई निन्दा की बात है न लज्जा की।

फिर भी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए निबंधों का लिखा और पढ़ा जाना अत्यंत स्वाभाविक है। कुतूहल की भांति जिज्ञासा भी मानव-मन की एक शाश्वत वृत्ति है और आधुनिक युग में भी जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति के लिए ऐसे तर्कसंगत विचार-प्रधान निबंध लिखे गये जिनमें 'मन रमाने वाली' बातों का अभाव होते हुए भी उनकी साहित्यिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'संगीत' शीर्षक निबंध देखिए :

भारतवर्ष की सब विद्याओं के साथ यथाक्रम संगीत का भी लोप हो गया. यह गानशास्त्र हमारे यहाँ इतना आदरणीय है कि सामवेद के मंत्र मात्र गाए जाते हैं, हमारे यहाँ वरञ्च यह कहावत प्रसिद्ध है 'प्रथम नाद तब वेद' अब भारतवर्ष का सम्पूर्ण संगीत केवल कजली ठुमरी पर आ रहा है तथापि प्राचीन काल में यह शास्त्र कितना गम्भीर था, यह हम इस लेख में दिखाते हैं.

गाना, बजाना, बताना और नाचना इसके समुच्चय को संगीत कहते हैं. प्राचीन काल में भरत, हनुमत, कलनाथ और सोमेश्वर यह चार मत संगीत के थे. कोई कोई शारदा, शिव, हनुमत और भरत यह चार मत कहते हैं. सात अध्यायों

में यह शास्त्र बँटा है जैसे स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, कोक और हस्त. सम्यक् प्रकार से जो गाया जाय उसे संगीत कहते हैं.

[हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, अगस्त १८७५, पृ० २७]

इसी प्रकार 'आध्यात्मिकी' संग्रह में संगृहीत महाबीरप्रसाद द्विवेदी के लेख शुद्ध जिज्ञासा की तृप्ति के लिये लिखे गए निबंध हैं। श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' के निबंध इसी कोटि के हैं और रामचन्द्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबंध भी इसी कोटि के निबन्धों में आ सकते हैं।

परंतु जिज्ञासा वृत्ति शाश्वत होते हुए भी दारुगत अग्नि की भाँति प्रसुप्त होती है। यही कारण है कि सभी लोग ऐसे निबंधों को रुचि से नहीं पढ़ सकते। कुछ लेखकों के अंतर में स्वयं एक अग्नि प्रज्वलित होती रहती है जिसकी चर्चा मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'भारत-भारती' में किया है :

पाठक ! न यह कह बैठना—छेड़ा कहाँ का राग है,
यह फूल कैसा है कि इसमें गंध है न पराग है?
है यह कथा नीरस तदपि इसमें हमारा भाग है,
निकले बिना बाहर नहीं रहती हृदय की आग है।

यह 'हृदय की आग' प्रायः बिना निकले नहीं रहती और एक बार निकल पड़ने पर पाठकों के हृदयों में भी आग लगा देने की क्षमता रखती है जिससे उनकी प्रसुप्त जिज्ञासा एक बार ही प्रज्वलित हो उठती है। यह एक दिव्य ज्वाला है और इसे साहित्यिक भाषा में 'असंतोष की ज्वाला' कह सकते हैं। जहाँ यह अप्रतिहत वेग में प्रज्वलित हो उठती है वहाँ गीति काव्यों की सृष्टि करती है, परन्तु जहाँ इसमें सौम्यता निवास करती है वहाँ इस असंतोष से ऐसे निबंधों की सृष्टि होती है जो पाठकों के हृदय में प्रकाश फैला देते हैं। बालकृष्ण भट्ट के कुछ निबन्ध इसी ज्वाला से उत्पन्न हुए हैं। 'नाम में नई कल्पना' शीर्षक निबंध से एक उदाहरण लीजिए :

गाज़ीदीन, मसुरियादीन, गंगादीन, दुर्गादीन, सीतलादीन, मातादीन, भगवानदीन, आदि दीनवाले नामों की हीन दशा पर हमें भी एक नई कल्पना सूझती है—अकिल अजीरन दीन। नाम कैसे होने चाहिए सो पहिले कहीं पर हम लिख चुके हैं। आज इस विषय को प्रसंग-प्राप्त देख पिष्ट पेषण की भाँत फिर इस पर कुछ कहा चाहते हैं।

नामकरण भी देश या जाति की तरक्की की कसौटी है, जिस जाति में तरक्की रहती है उस जाति में नाम भी उतने ही शिष्ट-सम्प्रदाय के रक्खे जाते हैं। हम

ोग जैसा और बातों में पीछे हटे हैं वैसा ही नाम धराने में भी। नाम के सुनते ी किसी घराने या जाति के बुद्धि-वैभव की पूरी परख हो जाती है। बंगदेशी भारत के और और प्रांतवालों की अपेक्षा कहाँ तक आगे बढ़े हैं और कितना अधिक बुद्धि का विस्तार इनमें है, यह उनके कर्ण रसायन कोमल पदावली-सम्पुटित नामों ही से सूचित होता है। वही हम लोग कहाँ तक बुद्धि-विस्तार में दरिद्र हो रहे हैं, यह हम लोगों के छुन्ना, मुन्ना, कल्लू, गुदड़, चिथरू आदि नामों से प्रगट है, बरन इसी बुद्धि की दरिद्रता ने हम लोगों में एक ख़याल पैदा कर रक्खा है कि घिनौना नाम रखने से बालक चिरंजीवी होता है। इसी बुनियाद पर ननकू, मनकू, नरकू, घसिट्टू, मुनमुन, चुलबुल, फटल्लू, सहलू, भोंपत, भोंदू, सोंदू, तिनकौड़ी, दमड़ी, छदामी आदि अनर्गल कर्णकटु घिनौने नाम रख दिये जाते हैं। किससे कहैं ? अकिल का अजीरन और समझदारी का जौहर तो है। इसी जौहर ने नाम ही की क्या, हमारी न जानिये कितनी बातों को अपनी मूठी में कर रक्खा है, जैसा स्त्रियाँ पढ़ाने-लिखाने से फूलती-फलती नहीं; मकान तंग और वायु-संचार-वंचित हो तो उसमें रहनेवाले सदा आसूदा और प्रसन्न रह फूलते-फलते हैं। ऐसी ही समझ ने प्लेग को देश में टिक जाने के लिए सहायता दी है। गंदे और तंग मकान में कबूतरों की ढाबली की भाँति सिकुड़-सिकुड़ाय के रहेंगे, पीले आम से ज़र्द पड़ गये बला से, फूलते-फलते तो जायंगे। किससे कहें ? इन गर्दखोरों के फूलने-फलने से क्या फ़ायदा ?

कितना तेज प्रकाशित हुआ है लेखक के हृदय की इस असंतोष-ज्वाला से ! जहाँ यह तेज प्रकाशित होता है वहाँ पाठकों का मन रमाने के लिए अन्य उपायों की खोज व्यर्थ है।

परन्तु सभी निबंधों में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति और असंतोष की ज्वाला प्रज्वलित नहीं होती और जहाँ इनका अभाव है वहाँ पाठकों का मन रमाने के लिये अन्य उपायों की खोज आवश्यक हो जाती है। इन उपायों में सबसे सरल उपाय बातचीत की शैली का प्रवेश है। 'कवि-वचन-सुधा' के 'पंच का प्रपंच' शीर्षक स्तम्भ में लेखक अपनी बहुत सी बातें पंच और किसी अन्य एक पात्र के संवाद रूप में उपस्थित करता है। २६ दिसम्बर १८७१ की 'कवि-वचन-सुधा' में 'बाघ का (की) चरचा' शीर्षक निबंध में इसी संवाद शैली का उपयोग किया गया है। इस चर्चा का आधार एक समाचार की सूचना थी कि काशी के राजमंदिर मुहल्ले में एक बाघ आया और बड़े प्रयत्न से मारा गया। इस पर प्रपंचनाथ (पंच का एक शिष्य) कहता है :

प्रपंचनाथ—नहीं नहीं वह सर्वथा बाघ नहीं था.

मन्नू०—तो क्या था ?

प्रपंच०—वह कलियुग होगा.

म०—वाह महाराज जी वाह ! क्यों न हो आप ऐसी दून की लेते हैं कि बस.

प्रपंच०—अबे मेरी बात भी सुनता है, वह निस्संदेह कलियुग था. कलियुग और व्याघ्र का धर्म एक ही है. देख यह कलियुग का बाघ सच्चे बाघ से भी भयंकर है जो बुरे लोगों के हृदय रूपी बन में रहता है और जिसकी गरज सुनते ही बिचारे धर्मादिक मृग लोग भागते फिरते हैं, काम क्रोधादिक उसके कराल-कराल दाँत हैं और बड़े-बड़े पाप उसके पंजे हैं, अच्छे-अच्छे मनुष्यों को मारता फिरता है परन्तु ज्ञानी लोग उसको ज्ञान की गोली से मार गिराते हैं जैसे वह यहाँ मारा गया.

म०—महाराज वह तो बाघ ही था.

प्रपं०—नहीं बाघ सर्वथा न होगा क्योंकि यदि कलियुग न होगा तो चंद्रमा होगा जो प्राची दिशि रूपी गुहा में निवास करता है और बिरही मृगों को परम दुखदाई है.

मन्नू—नहीं महाराज वह तो व्याघ्र ही था.

प्रपं०—नहीं चन्द्रमा न होगा कालात्मा भगवान् होगा जो अपने दिन रात्र रूपी ऊपर नीचे के दाँतों से यावत् संसार को मृग बनाकर भक्षण करता निर्द्वन्द्व विचरण करता है.

म०—महाराज मैं तो समझता हूँ कि बाघ ही है यदि कालात्मा भगवान होता जीता क्यों न रहता मारा कैसे जाता.

प्रपं०—कालात्मा भगवान भक्ति से जीता जाता है, जिस्को उस्की भक्ति है, उस्को काल का भय नहीं. अच्छा कालात्मा न होगा तो मुसल्मानों का राज होगा जो समस्त हिन्दू रूपी मृगों को नाश का कारण हुआ परन्तु सरकार की राज्य रूपी गोली उस्को ऐसी लगी कि फिर न उठा पर उस्के घायल किये हुए कई प्रबन्ध रूपी मृग ऐसे पड़े हैं कि उनके अंग भंग हो रहे हैं. इत्यादि

[कवि-वचन-सुधा पृ० ८३-८४]

उपरोक्त उदाहरण नाटक (एकांकी) का अंश नहीं एक निबन्ध मात्र है क्योंकि यदि यह नाटक होता तो इसमें आदि और अंत होता, नाटकीय परिस्थिति

होती, परन्तु यह तो एक साधारण संवाद है जिसमें बाघ को कलियुग, चन्द्रमा कालात्मा और टैक्स आदि का रूपक मात्र दिया गया है। निबन्ध को आकर्षक बनाने के लिये ही इस प्रकार की शैली का उपयोग किया गया है।

संवाद शैली के अतिरिक्त निबन्ध को आकर्षक और मनोरम बनाने के लिये अन्य नाटकीय तथा कथात्मक उपायों का भी अवलम्बन किया गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक अन्य निबन्ध 'मेला झमेला' शीर्षक देखिए :

एक ही किस्म का नाटक देखते देखते जी उकता गया. बार-बार वही दो सुफेद सियाह परदे बारी-बारी आँखों के आगे आते थे. मैं झुँझला रहा था कि वही सूरजमल जाट और वही रानी चंदा के स्वांग क्यों बार-बार दिखलाए जाते हैं. अकेला मैं ही नहीं कुल तमाशाई घबड़ा रहे थे. मगर नट बड़ा ही होशियार है फौरन हम लोगों के जी की बात समझ गया. दम भर में देखता क्या हूँ कि सीन बिलकुल बदल गया. आबी परदा दल बादल सा सामने से नमूदार हुआ. फिर क्या था दे पानी पर पानी. गड़ गड़ गड़ गड़ गड़ गड़. यह बिजली का नाच, वह बादलों का गाना. नाटक ही दूसरा हो गया.

यार लोगों ने भी पहिले तो रथ जात्रा का मेला देखा फिर सावन के मंगल सोमवार जुमेरात. चली आओ काली पीली हरी जरद जंगाली० एक बंदा परागंदा हजार तमाशे क्या देखे, घबड़ा कर भादों लगते ही मिरजापुर भगा० वाह बड़े मियाँ सुभानल्ला ! मिरजापुर जी बनारस से भी बढ़ चढ़ निकले० बड़ी बेतकल्लुफी० तिरिया राज० उसमें भी कजली का मेला गृहस्थैं नटिनैं रंडियैं एक से एक सकल गुन आगर० मेले में तहज़ीब की बू नहीं, बंदा घबड़ाया कि यहाँ तो गंगा जमुना सरस्वती सभी एक धार बहती हैं, बस भागा तो फिर बनारस में.

[हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका मई, सन् १८७९, पृ० १-२]

इसी प्रकार निबन्ध को मनोरञ्जक बनाने के लिये और कितने ही उपाय निकाले गए। चरित्रांकन की शैली में 'कलिराज की सभा' का एक वर्णन देखिए कितना मनोरञ्जक है :

झुठाई की नेव पर बनी, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की दीवालों से घिरी एक बड़ी विस्तृत सभा है जिस्के चारों ओर चार फाटक हैं जिनके ये नाम हैं—नास्तिकता, अल्पज्ञता, क्रौर्य्यता (क्रूरता) और पाखंड—उस सभा के बीच में एक लोहे का सिंहासन है जिसपर बुद्धि के कूर, मद्य से चूर, सत्पथ से दूर, आँखों के सूर, क्रोध में भरे, मुंह के जरे, भले को बुरे, झुठाई पर कमर कसे, गणिकाओं में फँसे, पाप के बाप, डसने को साँप, जालसाजों के सिरताज,

कल्लेदराज, धरम के गाज, कलियुग राज आज काल की प्रजा पर विराजमान हैं। जिस्के दहिने बूट पहिने इंग्रेजी पढ़े, बड़े कड़े, जैसे पुरानी भीत के रोड़े, अहमकी घोड़े, इड्यूकेटेड (Educated) हिन्दू, अनय के सिन्धु, वेद पुरान की वार्ताओं से शंकाकुल, मन में व्याकुल, के० सी० एस० आई०, कलियुग के सगे भाई, बड़े अन्याई, चश्मा लगाये, अँग्रेजों की खुशामद में जनम गँवाये, पाप कमाये बैठा है। जिस्के समीप एक लाला प्याला ढारे, पल्थी मारे चित्रगुप्त के (की) संतान, स्वारथ में सुजान, कलियुग के दीवान, अम्मामा बाँधे, अबा पहिने, कान में लेखनी खोंसे, पटका कसे बस्ता और कलमदान पास धरे बैठे हैं। इन्हीं के पास सत्यानास एक ब्राह्मो; बंगाली माशा मुक्ति की आशा किये सिविलाइज्ड, इङ्गलिसाइज्ड (Civilized Anglicized) केशव सेन का मतानुयायी जिस्की बहन कलियुग की माई, हाथ में केन, पावरोटी, और बीफ की बोटी लिये दिन रात जात पाँत का विवेक उठा देने में तत्पर, विधवा का विवाह करा देने के उद्यत विद्या का समुद्र (विद्यासागर) नंगे सिर अस्थिर चित्त स्थित है। इत्यादि

[हरिश्चंद्र-चंद्रिका, नवम्बर १८७३, पृ० ३८]

यहाँ वर्णन में व्यंग्यचित्र के साथ ही साथ अनुप्रासयुक्त सरस काव्यमयी भाषा का सौन्दर्य भी दर्शनीय है। भारतेन्दु युग के प्रयोग काल में निबन्धों के और भी सफल प्रयोग मिलते हैं जिनमें स्वप्नों के रूप में व्यंग्य रूपक, स्तोत्र, उपालम्भ आदि सभी हैं। स्वप्नों के रूप में भारतनक्षत्र शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चंद्र का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न'; स्तोत्रों के रूप में 'कंकड़ स्तोत्र', 'रेलवे स्तोत्र' 'मूषक स्तोत्र' आदि और उपालंभ के रूप में राधाचरण गोस्वामी का 'तुम्हें क्या' शीर्षक निबन्ध सफल बन पड़े हैं। 'तुम्हें क्या' निबंध में लेखक कहता है :

हम हिन्दू हैं, अनेक कुसंस्काराविष्ट हैं, धर्म के काम से जगह जगह भटकते फिरते हैं, पर तुम्हें क्या? तुम्हारी तरह कपट तो नहीं करते, तुम से सुखान्वेषी तो नहीं.

× × × ×

हमने एक हिन्दी पत्र प्रचलित किया, निज पाणिनि की टकसाल के खरे संस्कृत शब्दों का उसमें व्यवहार करते हैं और हमारे पाठकजन भी उसे बड़ी प्रसन्नता से पढ़ते हैं, पर तुम्हें क्या? तुम क्यों उसे अपने न समझने के कारण बुरा कहते हो? देश में सभी तुमसे लाल बुझक्कड़ हैं?

[सार-सुधानिधि, १५ सितम्बर १८७६, पृ० ४३८]

इतना ही नहीं डा० जानसन की परिभाषा को चरितार्थ करने वाले—मस्तिष्क के स्वच्छंद शिथिल प्रवाह रूप—निबंध भी भारतेन्दु युग में लिखे गए। 'क्या लिखें' (हरिश्चंद्र-चंद्रिका, मोहन-चंद्रिका आश्विन १६३७) तथा 'मन की मौज' (वही पौष १६३७) कुछ ऐसे ही निबंध हैं। इस प्रकार भारतेन्दु युग निबन्ध-साहित्य का प्रयोग युग था जिसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकुंद गुप्त तथा अन्य अनेक निबन्धकारों ने निबन्ध-साहित्य में सफल प्रयोग किये। इन सभी लेखकों में निबन्धकार के रूप में बालकृष्ण भट्ट सर्वाधिक सफल और प्रभावशाली लेखक हुए हैं। सन् १८७७ की विजयादशमी से 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन इन्होंने प्रारम्भ किया और जीवन के अंत तक इसे किसी प्रकार निकालते रहे, हाँ बीच में इसे कुछ वर्षों के लिए बंद भी कर देना पड़ा था। भट्ट जी जैसा तेजस्वी और खरी-खरी कह देने वाला लेखक हिन्दी में दूसरा कोई नहीं हुआ। उनके भीतर असन्तोष की वह दिव्य ज्वाला निरन्तर प्रज्वलित रहती थी जिसके बिना उच्चकोटि का निबन्ध-साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। सीधी सादी भाषा में, सरल निराडंबर शैली में भट्ट जी ने निबन्धों का जो ऊँचा स्तर प्रदर्शित किया वह द्विवेदी युग में भी मिलना कठिन है। सितम्बर १८६० की 'हिन्दी प्रदीप' में 'आत्मगौरव (Self-respect) विषय पर भट्ट जी लिखते हैं :

नये और पुराने फेशन के भाँत भाँत के पहनावे चल पड़े हैं जिसे पहन हम ऊँचे से ऊँचे दरजे के लोगों के साथ बेखटके मिल भुल सक्ते हैं किन्तु मन की वृत्तियों को ऊँचे दरजे पर पहुँचाने को केवल आत्मगौरव एक ऐसा पोशाक है जिसे पहन मनुष्य न केवल छोटे बड़े सब लोगों में प्रतिष्ठा ही पाने का अधिकारी होता है वरन नीच काम, नीची बात, नीच आचरण से सदा अपने को बचाता रहता है।

× × × ×

गरीबी और निर्धनता में तो आत्मगौरव बड़ा भारी धन है जिसने अपनी पत नहीं गँवाया और अपना गौरव बनाए हुए हैं, समाज में वह वैसी ही प्रतिष्ठा और इज्जत पाने का दावा रख सक्ता है जैसा धनी अपने असंख्य धन के द्वारा पाता है—आत्मगौरव एक प्रकार का साधन है जिसे बचाए रखना सहज काम नहीं है, यावत् बुराइयों से अपने को अलग रख सकै तब आत्मगौरव पाने का दावा कर सक्ता है। (पृ० २-३)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निबन्ध के सम्बन्ध में कितने ही सफल प्रयोग किए, परन्तु उनका विशेष ध्यान नाट्य-रचना, काव्य तथा इतिहास और जीवन-चरितों की ओर ही गया इसी कारण निबंधकार के रूप में वे केवल प्रेरक शक्ति और सफल प्रयोगकर्ता बनकर ही रह गए। प्रतापनरायण मिश्र भी भारतेन्दु युग के एक अच्छे निबन्धलेखक हुए हैं, परन्तु उनमें न भाषा का वह परिष्कार है न रुचि की वह विशेषता जो निबन्धकार के लिये अत्यंत आवश्यक है। उनका साहित्य-ज्ञान भी सीमिति था, फिर भी अपनी ज़िन्दादिली और विनोद-प्रियता के बल पर उन्होंने भी कुछ अच्छे निबन्ध लिखे हैं। राधाचरण गोस्वामी और उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्मा में निबन्ध लिखने की प्रतिभा पर्याप्त थी परन्तु उन्होंने निबन्ध कम ही लिखे। गोस्वामी जी ने नाटक और उपन्यास लिखने में जितनी रुचि दिखलाई, निबंध की ओर उतने उन्मुख नहीं हुए। बालमुकुंद गुप्त भी एक तेजस्वी लेखक हुए हैं परन्तु उनके लेख अपेक्षाकृत बहुत लम्बे और व्यंग्यपूर्ण हुए हैं। बंकिमचन्द्र से वे अत्यधिक प्रभावित थे और बंकिम-चन्द्र के 'कमलाकांतेर दफ्तर' के अनुकरण में उनका 'शिवशंभु का चिट्ठा' बड़ा ही सफल और व्यग्यंपूर्ण रहा है।

भारतेन्दु युग में निबन्ध-साहित्य का उदय और विकास तो अवश्य हुआ, परन्तु निबन्धों में शाखामयी विस्तार द्विवेदी युग में ही दिखाई पड़ा जब उसमें समालोचना का प्रवेश हुआ। यों तो समालोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हो गया था, परन्तु समालोचनात्मक निबंधों की परम्परा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (काशी १८९७), 'सरस्वती' (प्रयाग १९००), 'सुदर्शन' (काशी १९००) तथा 'समालोचक' (जयपुर १९०२) के प्रकाशन से प्रारम्भ हुई है।

'समालोचक' के उपक्रम में सम्पादक गोपालराम गहमरी ने सूचना दी थी कि—

इस पत्र का मुख्य उद्देश्य समालोचना होगा उसके साथ साहित्य की आलोचना भी इसमें रहा करेगी—

× × × ×

आजकल हिन्दी साहित्य में समालोचना का (की) चर्चा चला (चली) है। हिन्दी प्रेमी, हिन्दी पाठक, हिन्दी ग्रंथकार और हिन्दी समाचारपत्र-सम्पादक सब समालोचना के लिये झँखते पटकते हैं।

× × × ×

सारांश यह कि समालोचना बिना हिन्दी की अति दीन दशा है। अब

साहित्य-वाटिका में पड़ा कूड़ा कर्कट का ढेर अपने उदर से दूषित और अस्वास्थ्यकर वाष्प फेंकने लगा है।

[समालोचक, अगस्त १६०२, पृ० ४-५]

द्विवेदी युग में निबन्धों का रुख समालोचना की ओर मुड़ गया। बालकृष्ण भट्ट और राधाचरण गोस्वामी के निबंधों की परम्परा इस युग में शिथिल पड़ती जा रही थी, समालोचनात्मक निबन्धों का ही इस युग में बोलबाला था। निबन्धों को आकर्षक बनाने की समस्या इस युग में भी रही और इसी लिये द्विवेदी युग में अनेक नये लेखकों ने नई शैलियों को लेकर प्रवेश किया। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कथावाचकों की मनोरंजक शैली का सफल अनुकरण अपने निबन्धों में किया। कथा कहने वाले व्यासों की अत्याकर्षक और मनोमुग्धकर शैली को इन्होंने सफलतापूर्वक साहित्यिक साँचे में ढाल दिया। कथा बाँचने और कहानी कहने की कला उत्तर भारत में सभी जगह आदर की दृष्टि से देखी जाती है। कथा कहने में निपुण वक्ता श्रोताओं को माया-मंत्र के समान मुग्ध कर लेते हैं। द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक निबन्धों में उसी निपुणता का परिचय दिया। कठिन से कठिन और अत्यन्त गंभीर विषयों को भी वे अपनी घरेलू और चित्ताकर्षक शैली में उपस्थित करने में समर्थ हुए। 'नल का दुस्तर दूत कार्य' में श्रीहर्ष के नैषध काव्य को इतने सरल, सहज और स्पष्ट रूप में उपस्थित कर द्विवेदी जी ने नल के समान ही दुस्तर कार्य किया। किस सरलता से वे प्रारम्भ करते हैं :

प्राचीन समय में भारत का अधिकतर वह अंश जिसे आजकल कुमायूँ कहते हैं निषध देश के नाम से प्रसिद्ध था। अलका उसकी राजधानी थी। उसमें वीरसेन का पुत्र नल नामक एक महाप्रतापी राजा राज्य करता था।

नल एक दिन मृगया के लिए राजधानी से बाहर निकला। आखेट करते-करते वह अकेला दूर तक अरण्य में निकल गया। वहाँ उसने एक बड़ा ही मनोहर जलाशय देखा। उसके तट पर एक अलौकिक रंग-रूपधारी हंस, थक जाने के कारण, आँखें बंद किये, बैठा आराम कर रहा था। इत्यादि

[रसज्ञ-रंजन पृ० ८६]

द्विवेदी जी की शैली के ठीक विपरीत रामचंद्र शुक्ल की निबन्ध-शैली में आचार्यों की गुरु गम्भीरता का आभास मिलता है। किसी साधारण सी बात को भी आचार्यत्व की लपेट में गम्भीर बना देने की कला शुक्ल जी की अपनी थी और उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों तथा समालोचनात्मक लेखों में इस

गम्भीरता ने पर्याप्त ठोसपन ला दी है। इनकी आचार्य शैली से साधारण पाठकों पर एक सम्भ्रम-सा छा जाता है। शुक्ल जी का व्यंग्य और विनोद भी आचार्यत्व की ही कोटि का बड़ा गम्भीर है। उदाहरण के लिए 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध का आरम्भ देखिए :

दृश्य शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। "लहकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के हिलोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है," इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गंध तीनों का विवरण है पर इसे एक दृश्य ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण रूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अंतःकरण में 'चित्र-रूप' से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' भी कहते हैं।

श्यामसुन्दर दास भाषण-कला की विशेषताओं से युक्त शैली लेकर हिन्दी में प्रविष्ट हुए थे, परन्तु उनसे कहीं अधिक प्रभावशाली शैली अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में मिलती है जो वक्तृत्व कला का एक उत्तम उदाहरण है। वक्तृत्व कला भाषण-कला से कुछ ऊँची वस्तु है, उसमें स्पष्टता के साथ ओज, सरलता के साथ गम्भीरता और प्रवाह के साथ नपे तुले वाक्य रहते हैं। उनकी 'आचरण की सभ्यता' शीर्षक निबन्ध से एक उदाहरण देखिए :

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय परंतु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आंधी से उसके सिर का एक बाल तक बांका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पंखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय, जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायँ, वर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय, सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चा और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। इत्यादि

अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध संख्या में बहुत ही कम हैं परन्तु उनके

निबन्धों में जो भावों का वेग और ओज का प्रकाश है वह हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। द्विवेदी युग में पूर्णसिंह जैसा निबन्धलेखक दूसरा नहीं।

ओज और शक्तिमत्ता की दृष्टि से 'प्रताप' के यशस्वी सम्पादक गणेश-शंकर विद्यार्थी के निबन्ध भी बेजोड़ हैं। उनके निबन्धों का संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है, उनका सारा समय राजनीति और कारागृह में ही बीता, परन्तु उनकी लेखनी का जौहर भी अपने ढंग का निराला था।

द्विवेदी युग के कुछ निबंधकारों में सम्भाषण (बातचीत) की सभी मुग्धकारी विशेषताएँ मिलती हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' की निबन्ध-शैली इसी कोटि की थी। गुलेरी जी में गम्भीर पांडित्य के साथ व्यंग्य का पुट एक अद्भुत विशेषता रखता है। गुलेरी जी की मृत्यु अत्यंत अल्प अवस्था में ही हो गई, परन्तु इस अल्प अवस्था में भी अल्प रचना करके गुलेरी जी अमर हो गए। उन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखीं जिनमें एक कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में परिगणित हुई, ठीक उसी प्रकार उन्होंने केवल पांच ही निबन्ध लिखे जिनमें उनका 'कछुआ-धर्म' हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धों में एक माना जायगा। भावनावेश, पांडित्य, व्यंग्य और शैली की सरल स्पष्टता में यह निबंध हिन्दी में बेजोड़ है।

गुलेरी जी की ही भाँति कौशिक जी भी कहानी-लेखक और निबन्धकार दोनों हैं। उन्होंने विजयानंद दुबे के नाम से जो चिट्ठियाँ 'चाँद' और 'भविष्य' के सम्पादकों के नाम लिखी हैं वे अपनी ताजगी, (Freshness) शिष्ट व्यंग्य और परिहास के लिए सदैव पढ़ी जायँगी। पत्रों के रूप में निबन्ध-साहित्य का निर्माण कौशिक जी की अपनी सूझ बूझ थी।

'सुदर्शन'-सम्पादक माधवप्रसाद मिश्र के निबन्धों में उपदेश-तत्व की प्रधानता है, परन्तु उनका एक मात्र सफल निबन्ध 'सब मिट्टी हो गया' भावनात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है। खिलौने का टूट कर मिट्टी हो जाने का समाचार पा लेखक के मानस-पटल पर जो मिट्टी से प्रारंभ कर भारत वसुंधरा के अतीत गौरव का चित्र उपस्थित हो आया है वही सफल निबंध-लेखक की प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन है।

इन विविध शैलियों के अतिरिक्त गोविन्दनारायण मिश्र ने अपनी अपूर्व निबंध-पुस्तिका 'कवि और चित्रकार' में संस्कृत गद्य-कवियों की शैली का अनुकरण किया है और पद्मसिंह शर्मा ने उर्दू गद्य-शैली की जिन्दादिली, प्रवाह, और अत्युक्ति-प्रियता का प्रदर्शन किया। इस प्रकार भारतेन्दु युग से आगे बढ़ द्विवेदी यु

में निबन्ध-शैली के कुछ नए और सफल प्रयोग हुए जिससे निबन्ध-साहित्य की मनोरमता बढ़ती गई।

द्विवेदी युग में समालोचनात्मक निबंधों की रचना बड़ी गम्भीरता के साथ हुआ, परंतु व्यक्ति-प्रधान निबन्ध केवल इने-गिने ही लिखे गये। जिज्ञासा वृत्ति ही इस युग के निबन्धों में प्रधान रही, और तर्क-शृङ्खला-बद्ध विचारों की लड़ी से इस साहित्य का शृङ्गार हुआ।

इस युग की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ थीं—छंदबद्ध गद्यात्मक निबन्ध और गद्य रूप में घनीभूत भावनात्मक गद्य-गीत। छंदबद्ध गद्यात्मक निबन्धों में तर्क-शृङ्खलाओं को अंत्यानुप्रास और छंदों के जाल में जकड़कर एक उपहासास्पद स्वरूप खड़ा किया गया है। इसका प्रारम्भ हिन्दीवर्द्धिनी सभा, प्रयाग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हिन्दी की उन्नति पर दिए गये व्याख्यान से माना जा सकता है जिसमें लगभग १०० दोहों में हिन्दी की वृद्धि के लिये उपाय और प्रेरणा दी गई थी। रत्नाकर जी का 'समालोचनादर्श' भी एक निबन्ध ही है जो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में १८६८ में प्रकाशित हुआ था। कवि ने अँगरेजी के एक प्रसिद्ध छंदबद्ध निबन्ध (पोप रचित एसे ऑन क्रिटिसिज़्म) का हिन्दी में छंदबद्ध अनुवाद किया। उपसंहार रूप में उस समय चलते हुए ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद पर भी कवि की लेखनी चल पड़ी है :

ऐसौ अब्राह भयौ हरिचंद मित्र कविता कौ।
जाननिहारौ उचित पंथ अस्तुति निंदा कौ॥
छमासील चूकन पैं औ तत्पर गुणग्राही।
अतिसय निर्मल बुद्धि तथा हिय सुद्ध सदाही।
पै अब केते भए हाय इमि सत्यानासी।
कवि औ जाँचक रस-अनुभव सौं दोऊ उदासी।
सब्द अर्थ की ज्ञान न कछु राखत उर माहीं।
सक्ति, निपुनता औ अभ्यास लेसहू नाहीं।
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत बिबेक बिन।
अहंकार सौं भरे फिरत फूले नित निसि दिन।
जोरि बटोरि कोऊ साहित्य-ग्रंथ निर्मानै।
अर्थसून्य कहुँ, कहूं बिरोधी लच्छन ठानै॥
जानतहू नहिं कहा व्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार आचार्य स्वयंभव।

जात खड़ी बोली पैं कोऊ भयौ दिवानौ।
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन मैं है अरुभानौ।
अनुप्रास-प्रतिबंध कठिन जिनकै उर माहीं।
त्यागि पद्य-प्रतिबन्धहु लिखत गद्य क्यौं नाहीं।
अनुप्रास कबहूँ न सुकबि की सक्ति घटावैं।
बरु सच पूछौ तौ नव सूझ हियैं उपजावैं।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखैं फीके।
माँगहिं बिधना सौं ते श्रवन मानुषी नीके।
हम इन लोगनि हित सारद सौं चहत विनय करि।
काहू बिधि इनके हिय को दुर्गति दीजै दरि॥ इत्यादि

यह कविता नहीं निबन्ध है केवल इसका आवरण पद्यबद्ध है (जैसे कोई पुरुष नाटक में स्त्री का अभिनय करता हो)। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनेक पद्य निबन्ध मात्र हैं। कलकत्ता के तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने सभापतित्व के विस्तृत भाषण में अपनी 'आनन्द बधाई' शीर्षक लम्बी कविता सुनाई थी, यह कविता वास्तव में एक निबन्ध ही है। कविता बहुत लम्बी है, फिर भी इसका कुछ अंश उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है :

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आए।
अंगरेज़ी अधिकार अमित अन्याय नसाए।
लह्यो न्याय सब ही छीने निज स्वत्वहिं पाई।
दुरभागनि बचि रही यही अन्याय सताई।
लह्यो देस भाषा अधिकार सबै निज देशन।
राज काज आलय विद्यालय बीच ततच्छन।
पै इत विरचि नाम उर्दू को हिन्दुस्तानी।
अरबी बरनहुँ लिखत सके नहिं बुध पहिचानी।
'हिन्दुस्तानी' भाषा कौन? कहाँ तैं आई?
को भाषत किहि ठौर कोऊ किन देहु बताई।
कोउ साहब खपुष्प सम नाम धरयो मनमानो।
होत बड़ेन सों भूलहु बड़ी सहज यह जानो।
हरि हिन्दी की बोली अरु अच्छर अधिकारहि।
लै पैठारे बीच कचहरी बिना विचारहिं॥

जाको फल अतिसय अनिष्ट लखि सब अकुलाने ।
राज कर्मचारी अरु प्रजा वृन्द बिलखाने ।
संसोधन हित बारहिं बार कियो बहु उद्यम ।
होय असंभव किमि संभव कैसे खल उत्तम ।
हिन्दी भाषा सरल चह्यो लिखि अरबी बरनन
सो कैसे ह्वै सके विचारहु नेक विचच्छन ।।
मुगलानी, ईरानी, अरबी, इंगलिस्तानी ।
तिय नहिं हिन्दुस्तानी बानी सकत बखानी ।
ज्यों लोहार गढ़ि सकत न सोने के आभूषन ।
अरु कुम्हार नहिं बनै सकत चाँदी के बरतन ।।
कलम कुल्हाड़ी सों न बनाय सकत कोउ जैसे ।
सूजा सों मलमल पर बखिया होत न तैसे ।।
कैसे हिन्दी के कोउ सुद्ध शब्द लिखि लैहै ।।
अरबी अच्छर बीच लिखेहुँ पुनि किमि पढ़ि पैहै ।
निज भाषा को सबद लिखो पढ़ि जात न जामैं ।
पर भाषा को कहो पढ़ै कैसे कोउ तामैं ।
लिख्यो हकीम औषधी में 'आलू बोखारा' ।
उल्लू बने मौलवी पढ़ि 'उल्लू बेचारा' ।। इत्यादि

यह पद्यबद्ध निबन्ध, उस युग में जब कि गद्य की भाषा और शैली का समुचित विकास हो चुका था केवल अपनी शक्ति और प्रभाव को क्षीण करने में ही समर्थ हुआ है ।

पद्यबद्ध विचार-प्रधान निबंधों के ठीक विपरीत आधुनिक युग के वे गद्य-गीत हैं जिनमें भावना घनीभूत होकर गद्य में ही अपने स्वतंत्र लय और संगीत के साथ एक कलात्मक सृष्टि करती है । नाटकों के स्वगत भाषण के समान लेखक की ये घनीभूत भावनाएँ गद्य में भी गीति-काव्य की तीव्रता और भावावेश व्यक्त करती हैं, इन्हें निबन्ध की अपेक्षा गीति-काव्य कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है; परन्तु व्यक्ति प्रधान निबन्ध और गीति-काव्यों में गुण-भेद नहीं केवल मात्रा-भेद ही है, अस्तु इन गद्य-गीतों को व्यक्ति-प्रधान निबन्ध कहना भी असंगत नहीं है ।

द्विवेदी युग के पश्चात् विचार-प्रधान निबन्ध कम होते गए और समालोचनात्मक तथा व्यक्ति-प्रधान निबन्ध अधिक लिखे जाने लगे । व्यक्ति-प्रधान

निबन्धों में एक बड़ा भाग गद्य-गीतों का है। अँगरेज़ी में जिसे 'परसनल एसे' — व्यक्ति-प्रधान निबन्ध कहते हैं हिन्दी में उस प्रकार के निबन्ध बहुत ही कम हैं। इसका एक कारण है। हिन्दी में गद्य का प्रारम्भ तो १९ वीं शताब्दी में ही हो गया था परन्तु गद्य का महत्व आज भी सम्भवतः पूरी तरह से नहीं आँका जा सका है। आशुकविता के इस देश में जहाँ कवियों का दावा रहा है कि :

दीजिए समस्या तापै कवित बनाऊँ चट
कलम रुकै तो कर कलम कराइए।

वहाँ यदि गद्य का महत्व आँकने में देर हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गद्य से स हित्य के व्यावहारिक सभी काम आसानी से लिए जा सकते हैं — किसी सिद्धांत के निरूपण में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष का विवेचन, सिद्धांतों की व्याख्या, पाठकों के मत-परिवर्तन के लिए तर्क उपस्थित करना, विपक्ष के प्रमाणों का खंडन करते हुए अपने पक्ष का समर्थन, विरोधी मतवादियों को समझाने-बुझाने और उपदेश द्वारा ठीक रास्ते पर लाने के लिए युक्तियों और उपायों के निदर्शन का काम गद्य में जितनी सफलता और प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है उतना काव्य के माध्यम से नहीं; परन्तु द्विवेदी काल तक लेखकगण इस बात को नहीं समझ पाए थे, इसीलिए इसमें अधिकांश व्यापार पद्यबद्ध-रचनाओं द्वारा ही लिया जाता था। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' का अधिकांश अंश, महावीरप्रसाद द्विवेदी की अधिकांश रचनाएँ जैसे 'कनौजियों में ठहरौनी' 'संदेश' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए) आदि गद्य में कहीं अधिक प्रभावशाली हो सकती थीं। द्विवेदी युग के पश्चात् छायावाद युग में यद्यपि गद्य का पर्याप्त विकास हुआ परन्तु उस समय भी उसका महत्व पूर्णतः आँका नहीं जा सका। छायावाद युग में गीति-तत्व का प्राधान्य होने से गद्य में गद्यगीत लिखने की परम्परा चल पड़ी जिससे व्यक्ति-प्रधान निबन्ध लिखने की आवश्यकता भी न समझी गई। यह तो छायावाद युग के पश्चात् जब प्रगतिवाद की धूम मची तभी गद्य का समुचित महत्व आँका जाने लगा और तभी व्यक्ति-प्रधान निबन्ध भी लिखे जाने लगे।

एक बात और भी है। पश्चिम में निबन्ध साहित्य-रूप का विकास ही लेखक के व्यक्तित्व-प्रकाशन के लिए हुआ था। फ्रांस के महारथी साहित्यकार मान्टेन ने, जिन्होंने पहले पहल निबन्ध-साहित्य का स्वरूप निर्धारित किया था, स्पष्ट लिखा है कि अपने निबन्धों का विषय मैं स्वयं हूँ। यद्यपि बेकन ने मान्टेन

का मार्ग नहीं अपनाया, परन्तु निबन्धकार के रूप में मान्टेन की मान्यता ही सर्वाधिक महत्व की है। पश्चिम के कलाकारों ने अनुभव किया कि लेखक यदि अपने सम्बन्ध में अपनी व्यक्तिगत रुचि, व्यक्तिगत विचार अथवा भाव की अभिव्यक्ति करना चाहे तो भी काव्य, नाटक, कथा-कहानियों में उतनी स्वतंत्रता-पूर्वक नहीं कर सकता जितनी की वह कामना करता है। सम्भवतः इसीलिए मान्टेन ने एक ऐसे साहित्य-रूप की योजना की जिसमें लेखक यदि चाहे तो अपनी रुचि, भावना या विचार भी प्रसंगानुसार स्वच्छंदतापूर्वक व्यक्त कर सकता है। निबन्ध वही साहित्य-रूप है जिसमें लेखकों ने प्रतिपाद्य विषय के भीतर ही अपनी रुचि, भावना और विचारों की स्वच्छंद भाव से अभिव्यक्ति की है। भारतवर्ष का कवि और लेखक अपनी रुचि, भावना या विचार की स्वच्छंद अभिव्यक्ति में सर्वदा से संकोच करता आ रहा है। यहाँ तो चित्तवृत्ति-निरोध ही को परम पुरुषार्थ माना जाता रहा है। पौराणिक संस्कृति में तप की महत्ता ने काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह के साथ अहम् को भी जड़ मूल से उखाड़ दिया था। यह तो छायावादी कवियों ने—

'तप नहीं केवल जीवन सत्य'

की घोषणा कर अहम् की अभिव्यक्ति का द्वार उन्मुक्त किया। भारतवासी आर्यों की यह एक जातीय विशेषता रही है कि वे अपनी भावनाओं को दूसरे पर डाल कर प्रकट करते रहे हैं। इसी कारण व्यक्ति-प्रधान निबन्धों के स्थान पर छायावाद युग में गद्य-गीतों का प्रचलन हुआ था जहाँ लेखक की घनीभूत भावना रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का सहारा पा जाती है।

व्यक्ति-प्रधान निबन्ध के दर्शन वहीं होते हैं जहाँ लेखक अपने प्रतिपाद्य विषय की चर्चा के भीतर ही अपने व्यक्तित्व की झलक दिखलाता चलता है। व्यक्तित्व की यह झलक अतिस्पष्ट भी नहीं होती और वह बिलकुल अस्पष्ट रहे ऐसा भी नहीं होता। प्रसाद ने अपनी कामायनी में लज्जा का स्वरूप-वर्णन करते हुए जो लिखा है:

कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।

व्यक्ति-प्रधान निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व भी ठीक वैसा ही दीप्तिमान होता हुआ भी निबन्ध के प्रतिपाद्य विषय की धूमिल छाया में अस्पष्ट रहता है। प्रस्तुत संग्रह में 'आम फिर बौरा गए' शीर्षक निबन्ध में लेखक का पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व दीप्तमान होता हुआ भी अस्पष्ट है। व्यक्ति-प्रधान निबन्धों

का यही आदर्श होना चाहिए। कुछ लोग रामचंद्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान निबन्ध कहते हैं; यह उन निबन्धों के प्रति अन्याय है।

निबन्ध लेखकों और पाठकों के निकट परिचय का साहित्य है; परन्तु हिन्दी के लेखक पाठकों के बहुत निकट कभी नहीं पहुँचे। भारतेन्दु युग के 'गोष्ठी साहित्य' के युग में लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं द्वारा पाठकों के पास पहुँचने का प्रयत्न किया और वे काफी निकट पहुँच भी गए थे इसीलिए उस युग में निबन्धों का उदय आशामय और शुभ जान पड़ा था, परन्तु बीसवीं शताब्दी में लेखकगण पाठकों के निकट पहुँचने के स्थान पर क्रमशः दूर ही होते गए। उन्नीसवीं शताब्दी का लेखक और पाठक वर्ग दोनों ही सजग और जागरूक था और उर्दू के विरुद्ध हिन्दी की उन्नति के लिए दोनों ही पक्ष एक समान कटिबद्ध था। परन्तु बीसवीं शताब्दी में परिस्थितियाँ बदल गई थीं, एक विशाल भूक्षेत्र के पाठक हिन्दी लिखने पढ़ने लगे थे, ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो चला था, भाषा अव्यवस्थित हो रही थी, उपयुक्त शब्दों का अभाव खटकने लगा था. ऐसे समय में लेखक पाठकों के निकट आने की अपेक्षा अपनी उलझनें सुलझाने में लगे हुए थे। फिर ब्रजभाषा के विरुद्ध खड़ीबोली का आन्दोलन, हिन्दी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा, कथा-साहित्य का क्रमशः विकास और समालोचना की प्रगति ने लेखकों और पाठकों को व्यस्त कर रखा था। इन सब के ऊपर सुधार की भावना और राजनीति के प्राबल्य ने निबन्ध-साहित्य को भली प्रकार पनपने नहीं दिया। इसीलिए द्विवेदी युग और छायावाद युग में निबन्ध का विकास रुक-सा गया था। वर्तमान युग में फिर से यह साहित्य पनपने लगा है और आशा है निकट भविष्य में इसकी यथोचित उन्नति हो सकेगी।

हिन्दी के गम्भीर निबन्धों के रूप में केवल कुछ समालोचनात्मक निबन्धों की गणना की जा सकती है। समालोचनात्मक निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग के अंत में हुआ था और प्राचीन साहित्य के प्रकाशन, अध्ययन और मनन से इस प्रकार के निबन्धों का प्रचलन निरन्तर बढ़ने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष आदि के महाकाव्यों की व्याख्या और आलोचना की। रामचंद्र शुक्ल भी पहले संस्कृत काव्यों, विशेष रूप से, बाल्मीकि रामायण से अत्यंत प्रभावित थे और उन्होंने अपने निबन्ध 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' में अधिकांश उद्धरण संस्कृत ही के दिए। पद्मसिंह शर्मा ने पहले-पहल संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी कविता की तुलनात्मक परीक्षा प्रारम्भ की। मिश्रबन्धु प्रारम्भ ही से केवल हिन्दी साहित्य की समालोचना में लगे रहे और

अंत तक उन्होंने अपना व्रत निबाहा। द्विवेदी युग में समालोचनात्मक निबन्ध पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत किए गए परन्तु उनका स्तर बहुत ऊँचा न था। काव्य की बहिरङ्ग परीक्षा और चमत्कार के उद्घाटन में ही लेखकों का ध्यान लगा रहा। इसी समय बङ्गला, मराठी और अँगरेजी के कुछ समालोचनात्मक निबन्धों के अनुवाद प्रकाशित हुए जिनमें कवीन्द्र रवीन्द्र का 'प्राचीन साहित्य' और द्विजेन्द्रलाल राय का 'कालिदास और भवभूति' दो विशिष्ट समालोचनात्मक निबन्ध थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अन्य भाषाओं के आलोचनात्मक निबन्धों का सारांश देकर अपने हिन्दी निबन्धों में उनकी विस्तृत व्याख्या की। इस प्रकार द्विवेदी युग समालोचनात्मक निबन्धों की तैयारी और प्रयोग का युग था; अस्तु, उस युग में इस प्रकार के निबन्धों का स्तर बहुत ऊँचा न उठ सका। छायावाद युग समालोचनात्मक निबन्धों के विकास का युग माना जा सकता है। इस समय रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा तथा छायावाद युग के उदीयमान कवि और लेखक—पंत, प्रसाद, निराला तथा नन्ददुलारे बाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, गुलाबराय आदि समालोचना के क्षेत्र में अपनी नवीन चेतना लेकर प्रविष्ट हुए। इनके निबन्धों का स्वर अधिक गम्भीर और स्तर बहुत ऊँचा उठ गया था। शुक्ल जी ने कवि और काव्य की समालोचना के साथ ही समीक्षा-सिद्धांतों के मौलिक निरूपण और प्रतिपादन की ओर भी अपनी प्रतिभा की दृष्टि घुमाई, इस प्रकार समालोचना के सभी पक्ष पूर्ण और समृद्ध होने लगे। छायावाद युग के अंत और प्रगतिवाद के युग में अनेक नए आलोचक हिन्दी के क्षेत्र में उतरे जिनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय, नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं और इन्होंने आलोचनात्मक निबन्धों को पूर्ण समृद्ध बनाया।

हिन्दी क्षेत्र के बाहर भी हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद का महत्व स्वीकार कर अनेक विद्वानों और लेखकों ने हिन्दी निबन्ध लिखे जिनमें सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, काका कालेलकर, नलिनीमोहन सान्याल आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी निबन्ध-साहित्य का आज चतुर्मुखी विकास हो रहा है। गद्य साहित्य का पूर्ण वैभव निबन्ध-साहित्य में ही प्रकट होता है और हिन्दी में गद्य साहित्य का पूर्ण वैभव काल अभी तक नहीं आया। आशा है शीघ्र ही वह दिन देखने में आयेगा।

दुर्गाकुंड, बनारस
भाद्रपद पूर्णिमा, सं० २०१० वि०।　　श्रीकृष्ण लाल

विषय-सूची

रुचि

(बालकृष्ण भट्ट)

कोई काम हो उमदी तरह कभी नहीं होगा जब तक उस काम में रुचि न हो। गीता में भगवान् कृष्णचंद्र ने कहा है—

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥"

बिना श्रद्धा अर्थात् रुचि के जप, तप, दान, हवन आदि जो किया जाता है, सब व्यर्थ है—करना न करना दोनों एक सा है; न परलोक में उसका कुछ फल मिलता है, न इसी लोक में उस काम की कोई तारीफ़ करता है। शास्त्र वालों ने विधिपूर्वक या विधिवत् पर बड़ा जोर दिया है। सच पूछो तो रुचि या श्रद्धा से किसी काम का करना ही विधि है क्योंकि विधि तभी हो सकती है जब मन में हमारे उस काम की ओर रुचि है। ध्यान जमा कर देखिये तो मनुष्य जन्मते ही रुचि के दख़ल देने लगता है मानो रुचि उसकी दासी या ज़र खरीद लौंडी हो; बच्चे को मां के दूध के एवज़ गाय या बकरी का दूध शीशी या रुई के फाहे में दिया जाता है तो वह उसको ऐसी रुचि से नहीं पीता, जैसा मां का दूध। ऐसा ही मां की गोद के बदले उसे पालने या चारपाई पर सुला दो तो कदाचित् दस में दो-एक ऐसे होंगे जिनको बिना रोये-गाये खुशी से उस पर लेटे रहना रुचेगा। फिर ज्यों ज्यों उमर में वह बढ़ता जाता है, अपने हर एक काम खाना, पीना, सोना, ओढ़ना, पहिनना, खेल-कूद, पढ़ना-लिखना आदि में रुचि को जगह देता जाता है।

रुचि ही के जुदे-जुदे प्रकारान्तर या उसकी बारीकियाँ फ़ैशन के नाम से चल पड़े हैं; इस नई सभ्यता के ज़माने में जिसकी हद से ज़ियादह छानबीन हो रही है। फ्रान्स और इंगलैण्ड सरीखे मालदार सुसभ्य देशों में जिसकी यहाँ तक उन्नति है कि सुनते हैं, इंगलैण्ड में अमीर घरानों की लेडियों के लिये दिन में तीन बार पेरिस से उनके पोशाक आदि वेश-भूषा का नमूना आया करता है। वैसा ही हम लोग अपने खाने-पीने में रुचि की बारीकियों को बेहद बढ़ाये हुये हैं। कोई कहते हैं, हम नहीं जानते लोगों को रोटी खाना कैसे

पसन्द आता है,हमको तो दोनों जून ताज़ी ताज़ी लुचुई और बेढ़नी मिलती जाय तो कभी कच्ची रसोंई का नाम न लें। दूसरे कहते हैं, तुम्हारी भी क्या ही रुचि है? लुचुई सी सकील चीज़ तुम्हें कैसे रुचती है; अजी कहीं बिना कच्ची रसोंई खाये जी भरता है। हमारे हिन्दुस्तान में कच्ची रसोंई का तरीका ऐसा बढ़िया रक्खा गया है कि अगर तकल्लुफ़ को मौका दिया जाय तो हक़ीक़त में रसोंई रसायन हो जाती है। एक तीसरे बोल उठे, यह तो अपनी अपनी रुचि की बात है। पर मेरी राय तो यह है कि खाना मुसलमान बहुत अच्छा पकाते हैं, खुसूसन गोश्त की किस्में। इस पर कोई कंठीबन्द वहाँ पर बैठे थे, बोल उठे—हरे हरे, तुम्हारी रुचि कैसी है, हम नहीं कह सकते। हमको तो मांस-भोजन का नाम सुन मिचलाई आने लगती है। आपने हमारे गोपाल-मन्दिर की खुशबूदार बघांधी, मोहन-थाल और दूसरे दूसरे छप्पन प्रकार के भोग का महाप्रसाद मालूम होता है कभी आँख से भी नहीं देखा, नहीं तो मुसलमानों के भोजन को कभी न सराहते।

ऐसा ही पेय वस्तु में भी रुचि आ टाँग अड़ाती है। पीना हम उसे कहेंगे जो बिना दातों की सहायता के केवल जीभ और तालू हो हलक़ के भीतर जाता है, परन्तु इस रस के ज्ञान में रसना अर्थात् जीभ का अधिक सम्बन्ध है तो वहाँ रुचि की सलाह ली जाती है। पेय पदार्थों में सबसे पहले पानी है जिसको वैद्यकवाले यों कहते हैं—शरत् और वसन्त ऋतु को छोड़ और महीनों में नदी का पानी पीने योग्य है।

"पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते च पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते च नादेयम्॥"

कोई कहता है, हम तो सदा ताज़ा पानी पीते हैं और इसके सैकड़ों फ़ायदे बतलाता है। दूसरे कहते हैं, हम तो जाड़े में भी ठंढा पानी पीते हैं और गर्मियों में तो बिना बर्फ़ प्यास बुझती ही नहीं। इतने में एक अंगरेज़ी पढ़े वहाँ बैठे थे, बोले—आपको मालूम नहीं, कितने निहायत बारीक कीड़े पानी में रहते हैं। इसलिये इसे छान लेना बहुत ज़रूरी है। लिखा भी है—

"वस्त्रपूतम्पिबेज्जलम्"।

मैंने तो एक फ़िलटर ख़रीदा है, उसी में छान बिल्लौरी ग्लास में पानी पीता हूँ। बर्फ़ के साथ शीशे के ग्लास में पानी रख पीने में बड़ा मज़ा मिलता है। इतने में एक चौथे साहब बोल उठे—हमको यह सब खटराग मालूम होता है।

यहाँ तो खरा खेल फ़र्रुख़ाबादी पसन्द आता है। प्यास ने सताया तो दो आने फेंक दिये, सोडावाटर का बोतल मुँह में लगाय, घट्ट-घट्ट उतार गये, कलेजा तर हो गया। इतने में एक पाँचवें साहब जो वहाँ मौजूद थे, कहने लगे—हे भगवन्! धर्म के अब तुम्हीं रक्षक हो। न जानिये कैसा समय आया है कि अंगरेज़ी पढ़-पढ़ लोग भ्रष्ट होते जाते हैं। अपने तो कैसी ही प्यास लगी हो बिना चरणोदक मिलाये जल कभी नहीं पीते।

अब सोने को लीजिये। पंसेरियों खटमल से लदी हुई टूटी खाट से ले उमदा से उमदा पलंग ईज़ी-चेयर और कोच तक न जानिये कितने खटराग रचे गये हैं। सो सब इस रुचि ही के भाँत भाँत के ईजाद हैं। इतने पर भी जब नींद का झोंका आता है तब यह रुचि यहाँ तक बेहया बन जाती है कि कंकड़ पर भी सोइये तो मखमली कोच का मज़ा मिलता है।

"निद्रातुराणां न च भूमिशैया॥"

ऐसे भी ज़िद्दी सोनेवाले मनहूस पाये जाते हैं कि चलते-चलते सोते हैं, खाते-खाते सोते हैं, बातचीत करने में एक बात मुँह से निकली तो दूसरे में अन्तर्ध्यान हो गये।

अब पहनावे को लीजिये। लोग कहते हैं, यहाँ के लोग भद्दे हैं, फ़ैशन नहीं जानते। पर यहाँ ग्रन्थ के ग्रन्थ नख-सिख सोलहो सिंगार के ऊपर लिख दिये हैं। यहाँ के अनगिनत क़िस्म के पोशाक और आभूषण जुदी-जुदी रुचि के अनुकूल गिनने लगें तो घड़ी दो घड़ी न चाहिये, वरन दिन का दिन समाप्त हो जाय। तो अब देर तक पढ़नेवालों को इस रुचि के भँवरजाल में फँसाये रखना और किसी दूसरे लेख के पढ़ने से वंचित रखना है, इसलिये इस सियापे को अब बन्द कर छोड़ते हैं। पढ़नेवालों की रुचि के अनुकूल फिर कभी निकालेंगे।

हंस का नीर-क्षीर-विवेक

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

संस्कृत-साहित्य में हंस, पिक, भ्रमर और कमल की बड़ी धूम है। बिना इनके कवियों की कविता फीकी हो जाती है। कोई पुराण, कोई काव्य, कोई नाटक ऐसा नहीं जिसमें इनका ज़िक्र न हो। इन सब में कवियों ने एक न एक विशेषता भी रक्खी है। यथा—हंस, मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है; दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। पिक अपने बच्चे कौवों के घोंसलों में रख आता है और बड़े होने तक उन्हीं से उनकी सेवा कराता है। भ्रमर, आम की मञ्जरी से अतिशय प्रेम रखता है, पर चम्पे के पास तक नहीं जाता। कमल, चन्द्रमा से द्वेष रखता है। उसकी विद्यमानता में वह कभी नहीं खिलता; पर सूर्य्य का वह परम भक्त है। इनमें से दो एक बातें तो निःसन्देह सही हैं; पर औरों के विषय में मतभेद है। उदाहरण के लिए हंस और उसके नीर-क्षीर-विषयक विवेक को लीजिए।

संस्कृत काव्यों में जगह-जगह पर यह लिखा हुआ है कि हंस में यह शक्ति है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। पर दूध और पानी को अलग-अलग करते उसे किसी ने नहीं देखा। शायद किसीने देखा भी हो, पर इस विषय का कोई लेख कहीं नहीं मिलता। यह प्रवाद सात समुद्र पार करके अमेरिका पहुँचा। वहाँ के विद्वानों को हंस का यह अद्भुत गुण सुनकर आश्चर्य हुआ। पर वे लोग ऐसी-ऐसी बातों को चुपचाप मान लेने वाले नहीं। इस देश में हंस-विषयक यह प्रवाद हज़ारों वर्षों से सुना जाता है। पर इसके सत्यासत्य की जाँच आजतक किसी ने नहीं की। यदि किसी ने की भी हो तो उसका फल कहीं लिपिबद्ध नहीं मिलता। अमेरिका में हावर्ड नाम का एक विश्वविद्यालय है। उसमें लांगमैन साहब एक अध्यापक हैं। आपने हंस के इस अलौकिक गुण की परीक्षा का प्रण किया। इसलिए आपने कई हंस मँगाकर पाले और अनेक तरह से उनकी परीक्षा की। पर नीर को क्षीर से अलग करने में उन्होंने हंस को असमर्थ पाया, तो हंस के नीर-क्षीर-विवेक-विषयक वाक्यों की क्या सङ्गति हो? इस विषय के दो-चार वाक्य सुनिए—

नीर-क्षीर-विवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

भामिनीविलास।

हे हंस, यदि क्षीर को नीर से अलग कर देने का विवेक तू ही शिथिल कर देगा तो फिर इस जगत में अपने कुलव्रत का पालन और कौन करेगा?

वितीर्णशिक्षा इव हृत्पद्मस्थसरस्वतीवाहनराजहंसैः।
ये क्षीर-नीर-प्रविभागदक्षा यशस्विनस्ते कवयो जयन्ति॥

श्रीकण्ठचरित।

हृदय में स्थित सरस्वती के वाहन राजहंसों ने मानों जिनको शिक्षा दी है, ऐसे क्षीर-नीर-विभाग करने में दक्ष कविजनों की महिमा खूब जागरूक है।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥

शाकुन्तला।

हंस जिस तरह क्षीर ग्रहण कर लेता है और उसमें मिला हुआ पानी पड़ा रहने देता है, वैसे ही यह भी वध करने योग्य मुझे मारेगा और रक्षणीय द्विज की रक्षा करेगा।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाऽशुभाः।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः॥

महाभारत—आदिपर्व।

लोगों के मुँह से भली-बुरी बातें सुनकर बुद्धिमान् आदमी अच्छी बात को वैसे ही ग्रहण कर लेता है जैसे हंस जल में से दूध को ग्रहण कर लेता है।

यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण के दूसरे अध्याय में एक वाक्य है। उसका मतलब है—जिस तरह क्रौञ्च-पक्षी जल और दूध को अलग-अलग करके दूध का ही पान करता है उसी तरह इन्द्र भी जल से सोमरस को अलग करके उसका पान कर लेता है। इसकी टीका सायनाचार्य ने इस प्रकार की है—

क्षीरपात्रे स्वमुखे प्रक्षिप्ते सति मुखगतरसम्पर्कात्क्षीरांशो जलांशश्चोभौ विविच्येते।

अर्थात् जल-मिश्रित दूध के बर्तन में हंस जब अपनी चोंच डालता है तब मुखगत रस विशेष का योग होते ही जल और दूध दोनों अलग-अलग हो जाते हैं या अलग-अलग जान पड़ते हैं।

इस पिछले अवतरण से यह सूचित होता है कि किसी-किसी की राय में हंस के मुँह में एक प्रकार का रस होता है। उस रस का मेल होने से पानी और दूध अलग-अलग हो जाते हैं। यदि इस रस में खट्टापन हो तो दूध का जम कर दही हो जाना सम्भव है। पर इसके लिए कुछ समय चाहिए। क्या हंस की चोंच दूध के भीतर पहुँचते ही दूध जम जाता होगा? सम्भव है, जम जाता हो, पर यह बात समझ में नहीं आती कि पात्र में भरे हुए जल-मिश्रित दूध में से जल को अलग करके दूध को हंस किस तरह पी लेता है। अध्यापक लाँगमैन की परीक्षा से तो यह बात सिद्ध नहीं हुई।

अमेरिका के एक और विद्वान् ने हंस के नीर-क्षीर-विषयक प्रवाद का विचार किया है। आपका नाम है डाक्टर काब्मस। आप वाशिंगटन में रहते हैं। आपका मत है कि हंस के मुँह की बनावट ऐसी है कि जब वह कोई चीज़ खाता है तब उसका रसमय पतला अंश उसके मुँह से बाहर गिर पड़ता है और कड़ा अंश पेट में चला जाता है। आपके मत में दूध से मतलब इसी कड़े अंश से है! बहुत रसीली चीज़ खाते समय रस का बाहर बह आना सम्भव ज़रूर है, पर किसी चीज़ के कठोर अंश का अर्थ दूध करना हास्यास्पद है।

अच्छा, हंस रहते कहाँ हैं और खाते क्या हैं? हंस बहुत करके इसी देश में पाये जाते हैं। उनका सबसे प्रिय निवासस्थल मान-सरोवर है। यह सरोवर हिमालय पर्वत के ऊपर है। सुनते हैं, यह तालाब बहुत सुन्दर है। इसका जल मोती के समान निर्मल है। यहीं हंस अधिकता से रहते हैं और यहीं वे अण्डे देते हैं। जाड़ा आरम्भ होते ही, शीताधिक्य के कारण, मानसरोवर छोड़कर वे नीचे चले आते हैं, पर विन्ध्याचल के आगे वे नहीं बढ़ते। विन्ध्या और हिमालय के बीच ही में निर्मल जल-राशि-पूर्ण तालाबों और नदियों के किनारे वे रहते हैं। चैत्र-वैशाख में वे फिर हिमालय की तरफ़ चले जाते हैं। जिन जलाशयों में कमलों की अधिकता होती है वे हंसों को अधिक प्रिय होते हैं। वहीं वे अधिक रहते हैं। उनके शरीर का रङ्ग सफ़ेद होता है और उनके पैर लाल होते हैं। चोंच का रङ्ग भी लाल होता है डीलडौल उनका बतक से कुछ बड़ा होता है।

यदि हंस दूध पीते हैं तो दूध उनको मिलता कहाँ से है? मान-सरोवर में उन्होंने गायें या भैंसें तो पाल नहीं रक्खीं, और न हिन्दुस्तान ही के किसी तालाब या नदी में उनके दूध पीने की कोई सम्भावना है! इससे गाय-भैंस का दूध पीना हंसों के लिए असम्भव-सा जान पड़ता है। कोई-कोई कवि-जन कहते

क हंस मोती चुगते हैं। पर मोती भी मान-सरोवर में नहीं पैदा होते। यदि
में मोतियों का पैदा होना मान भी लिया जाय तो हिन्दुस्तान के तालाबों में,
वे कुछ दिन रहते हैं, मोतियों का पैदा होना आज तक नहीं सुना गया। हाँ,
बार हमने कहीं पढ़ा था कि पञ्जाब, या राजपूताने की किसी झील में कुछ
याँ ऐसी मिली थीं जिनमें मोती थे, पर क्या जितने हंस मान-सरोवर
कर नीचे आते हैं वे सिर्फ उसी झील में जाकर रहते और मोती चुगते हैं?
भी यदि मोती बिखरे हुए पड़े हों तभी उन्हें हंस-गण आसानी से चुगेंगे?
यदि वे सुक्तियों के भीतर ही रहते हों तो उनको फोड़कर मोती निकालना
के लिये ज़रा कठिन काम होगा। पर इन सम्भावनाओं का कुछ अर्थ
। निर्म्मल जल की उपमा मोती से दी जाती है और मान-सरोवर का जल
न्त निर्म्मल है। इससे उसके मोती-सदृश निर्म्मल जल की उपमा मोती
ते-देते लोगों ने जल को ही मोती मान लिया हो तो कोई आश्चर्य
। अतएव —

"की हंसा मोती चुगैं की भूखे रहि जायँ" आदि में मोती चुगने से मतलब
ो. के समान निर्म्मल जल पीने से जान पड़ता है। यह पीने की बात हुई।
खाने की बात का विचार कीजिए। नैषधचरित के पहले सर्ग में लिखा है
राजा नल ने एक हंस पकड़ा। हंस आदमी की बोली बोलता था। उसने
। से कहा—"फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं कम यस्य वृत्तयः।"
ात् पानी में पैदा होने वाले पौधों और बेलों के फलों और कन्दों से मैं
यों के समान अपना जीवन निर्वाह करता हूँ। भामिनी-विलास में जगन्नाथ-
ने हंस की एक अन्योक्ति कही है। यथा—

> भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
> न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि ॥
> रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य
> कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः?

रे राजहंस, जिसके आश्रय में रह कर तूने मृणाल-दण्डों को खाया, जल-
किया, और नलिनों का स्वाद लिया उस सरोवर का तू किस प्रकार प्रत्युप-
करेगा? मेघदूत में कालिदास कहते हैं—

> आकैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
> सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥

अर्थात् बिस और किसलय रूपी पाथेय (रास्ते में खाने-पीने की सामग्री) लेने वाले राजहंस आकाश में, कैलाश पर्वत से आप (मेघ) के साथी या सहायक होंगे। विक्रमोर्वशी में भी कालिदास एक जगह कहते हैं—

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।

अर्थात् यह सुराङ्गना (मेरा मन शरीर से उसी तरह) खींच रही है जिस तरह राजहंसी मृणाल से सूत्र खींचती है। इन अवतरणों से प्रकट है कि हंस चाहे मोती चुगते और दूध पीते ही क्यों न हों, पर वे पानी भी पीते हैं और जलरुह पौधों के फल, फूल, मूल, नाल, मृणाल और बिसतन्तु भी खाते हैं। हंसों को जलज-पूर्ण जलाशयों में रहना अधिक पसन्द है। वहाँ उनके खाने की सामग्री, विशेष करके मृणाल-दण्ड, उनके भीतर के बिस-तन्तु और उनसे निकलने वाला रस है। कमल-नाल को तोड़ने से उसके भीतर से सफेद-सफेद सूत-सी एक चीज़ निकलती है। उसी को बिस-तन्तु कहते हैं। सुनते हैं, उसे हंस बहुत खाते हैं। मृणाल-दण्ड की गाँठों से एक तरह का रस भी निकलता है वह पतले दूध की तरह सफेद होता है। उसमें कुछ मीठापन भी होता है। उस रस का भी नाम क्षीर है। पेड़ों से निकलने वाले पानी के सदृश सफेद रङ्ग के प्रायः सभी प्रवाही पदार्थों का नाम क्षीर है। यहाँ तक कि गूलर, बरगद, थूहड़ और मदार तक से निकलने वाली सफेद चीज़ को हम लोग दूध ही कहते हैं। मृणाल-दण्ड पानी में रहते हैं। उन्हीं के भीतर से क्षीर-तुल्य सफेद रस निकलता है उसी रस को हंस पीते या खाते हैं। अतएव, इस तरह, पानी के भीतर से निकाल कर हंसों का दूध पीना ज़रूर सिद्ध है। अनुमान होता है कि आरम्भ में इसी प्रकार के नीर-क्षीर के पृथकत्व से पण्डितों का मतलब रहा होगा। धीरे-धीरे लोग वह बात भूल गये। उनकी यह समझ हो गई कि मामूली जल-मिश्रित दूध से हंस जल को पृथक् कर देते हैं और जल को छोड़-कर दूध भर पी जाते हैं।

मेघदूत

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है जिसमें पद्यरूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न, जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है; आँधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँचती है; बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकती है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी जोर नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट ही सकता है। काल पाकर और इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती हैं; पर यह अद्भुत भवन न कभी जीर्ण होगा और न कभी इसका ध्वंस ही होगा। प्रत्युत इसकी रमणीयता-वृद्धि ही की आशा है। इसे अजर भी कह सकते हैं और अमर भी।

अलकाधिपति कुबेर के कर्मचारी एक यक्ष ने कुछ अपराध किया कुबेर ने, एक वर्ष तक अपनी प्रियतमा पत्नी से दूर जाकर रहने का दण्ड दिया यक्ष ने इस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अलका छोड़कर वह मध्य प्रदेश के रामगिरि नामक पर्वत पर आया। वहीं उसने एक वर्ष बिताने का निश्चय किया। आषाढ़ का महीना आने पर बादल आकाश में छा गये। उन्हें देखकर यक्ष का पत्नी-वियोग-दुःख दूना हो गया। वह अपने को भूल-सा गया इसी दशा में उस विरही यक्ष ने मेघ को दूत कल्पना करके, अपनी वार्ता अपनी पत्नी के पास पहुँचानी चाही। पहले कुछ थोड़ी-सी भूमिका बाँधकर उसने मेघ से अलका जाने का मार्ग बताया, फिर सँदेशा कहा। कालिदास ने मेघदूत में इन्हीं बातों का वर्णन किया है।

मेघदूत की कविता सर्वोत्तम कविता का एक बहुत ही अच्छा नमूना है उसे वही अच्छी तरह समझ सकता है जो स्वयं कवि है। कविता करने ही से कवि-पदवी नहीं मिलती। कवि के हृदय को—कवि के काव्य-मर्म्म को—जो जान सकते हैं वे भी एक प्रकार से कवि हैं। किसी के काव्य के आकलन करने वाले का हृदय यदि कहीं कवि ही के हृदय-सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है इस दशा में आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा जो कवि को उस कविता मे

निर्म्माण करने से मिला होगा। जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक ऊँचे दरजे की समझना चाहिए। इसी तरह, जिस कवि या समालोचक को किसी काव्य के पाठ या रसास्वादन से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक कविता का मर्म्म जानने वाला समझना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखकर, आइए, देखें, कालिदास ने इस काव्य में क्या-क्या करामातें दिखाई हैं। पर इससे कहीं यह न समझ लीजिएगा कि हम कवि या समालोचक होने का दावा करते हैं। हम तो ऐसे महानुभावों के चरणों की रज भी नहीं। तथापि—

नमः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः।

इस कविता का विषय—यहाँ तक कि इसका नाम भी—कालिदास के परवर्ती कवियों को इतना पसन्द आया है कि इसकी छाया पर हंसदूत, पदाङ्क-दूत, पवनदूत और कोकिलदूत आदि कितने ही दूत-काव्य बन गये हैं। यह काव्य की लोक-प्रियता का प्रमाण है।

कालिदास को इस काव्य के निर्म्माण करने का बीज कहाँ से मिला? इसका उत्तर "इत्याख्याते पवनतनय मैथिलीवोन्मुखी सा"— इत्यादि इसी काव्य में है।

"इतनो कहत तोहिँ मम प्यारी।
जिमि हनुमत को जनकदुलारी॥
सीस उठाय निरखि घन लैहै।
प्रफुलित-चित ह्वै आदर दैहै॥"

यक्ष की तरह रामचन्द्र को भी वियोग-व्यथा सहनी पड़ी थी। उन्होने पवनसुत हनूमान् को अपना दूत बनाया था। यक्ष ने मेघ को दूत बनाया। मेघ का साथी पवन है, हनूमान् की उत्पत्ति पवन से है। अतएव दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी हुआ। यह सम्बन्ध काक-तालीय-सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु मैथिली के पास रामचन्द्र का सँदेशा भेजना वैसा सम्बन्ध नहीं। बहुत सम्भव है, कालिदास को इसी सन्देशा-स्मृति ने प्रेरित करके उनसे इस काव्य की रचना कराई हो; बहुत सम्भव है, यह मेघ-सन्देश कालिदास ही का आत्म-सन्देश हो।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर है। वे धाराधिप विक्रम के सभा-रत्न थे। यदि यह बात सत्य हो तो काश्मीर से धारा के मार्ग में जो नदियाँ, नगर, पर्वत और देश आदि पड़ते हैं उनसे

कालिदास का बहुत अच्छा परिचय रहा होगा। धारा और काश्मीर के आसपास के प्रदेश, नगर और पर्वत आदि भी उन्होंने अवश्य देखे होंगे। मेघ को बतलाये गये मार्ग में विशेष करके इन्हीं का वर्णन है और यह वर्णन बहुत ही मनोहर और प्रायः यथार्थ है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो काश्मीर ही कालिदास की जन्मभूमि हो और जिन वस्तुओं और स्थलों का उन्होंने इस काव्य में वर्णन किया है उनको उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो।

कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता-सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरलता और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति बढ़ जाती है। इस काव्य में शृङ्गार और करुण रस के मिश्रण की अधिकता है। यक्ष का सन्देश कारुणिक उक्तियों से भरा हुआ है। जो मनुष्य कारुणिक आलाप करता है, या जो प्रेमोद्रेक के कारण अपने प्रेम-पात्र से मीठी बातें करता है, वह न तो साँप के सदृश टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता है, न रथ के सदृश दौड़ता ही है। अतएव उसकी बातें भुजङ्गप्रयात या रथोद्धता, या और ऐसे ही किसी वृत्त में अच्छी नहीं लगतीं। वह तो ठहर-ठहरकर, कभी धीमे और कभी कुछ ऊँचे स्वर में, अपने मन के भाव प्रकट करता है। यही जानकर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का उपयोग इस काव्य में किया है। और, वही जानकर उनकी देखा देखी, औरों ने भी, दूत-काव्यों में, इसी वृत्त से काम लिया है।

कवि यदि अपने मन का भाव ऐसे शब्दों में कहे जिनका मतलब सुनने के साथ ही, सुननेवाले की समझ में आ जाय तो ऐसा काव्य प्रसाद-गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है उसी तरह प्रसाद-गुण-परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों के भीतर से झलकता है। उसके हृदयङ्गम होने में देर नहीं लगती। अतएव, जिस काव्य में करुणार्द्र सन्देश और प्रेमातिशय-द्योतक बातें हों उसमें प्रसाद-गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बात यदि कहते ही समझ में न आ गई—कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया—तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिये। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुणा-क्रन्दन करने वाले अपनी युक्तियों में ध्वनि, व्यङ्ग और क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में अपने जी की बात कहते हैं। यही समझ कर महाकवि कालिदास ने मेघदूत को प्रसाद-गुण से ओत-प्रोत भर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य

की रचना वैदर्भी रीति में की है—चुन-चुनकर सरल और कोमल शब्द रक्खे हैं; लम्बे-लम्बे समासों को पास तक नहीं फटकने दिया।

देवताओं, दानवों और मानवों को छोड़कर कवि-कुल-गुरु ने इस काव्य में एक यक्ष को नायक बनाया है। इसका कारण है। यक्षों के राजा कुबेर हैं। वे धनाधिप हैं। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उनकी दासियाँ हैं। सांसारिक सुख, धन की बदौलत, प्राप्त होते हैं। जिनके पास धन नहीं वे इन्द्रियजन्य सुखों का यथेष्ट अनुभव नहीं कर सकते। कुबेर के अनुचर, कर्मचारी और पदाधिकारी सब यक्ष ही हैं। अतएव कुबेर के ऐश्वर्य का थोड़ा बहुत भाग उन्हें भी अवश्य ही प्राप्त होता है। इससे जिस यक्ष का वर्णन मेघदूत में है उसके ऐश्वर्यवान् वैभव-सम्पन्न होने में कुछ भी सन्देह नहीं। उसके घर और उसकी पत्नी आदि के वर्णन से यह बात अच्छी तरह साबित होती है। निर्धन होने पर भी प्रेमी-जनों में पति-पत्नी सम्बन्धी प्रेम की मात्रा कम नहीं होती। फिर जो जन्म ही से धन-सम्पन्न है—जिसने लड़कपन ही से नाना प्रकार के सुख-भोग किये हैं—उसे पत्नी-वियोग होने से कितना दुःख, कितनी हृदय-व्यथा, कितना शोक-सन्ताप हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। ऐसा प्रेमी यदि दो-चार दिन के लिए नहीं, किन्तु पूरे साल भर के लिए, अपनी प्रेयसी से सैकड़ों कोस दूर फेंक दिया जाय तो उसकी विरह-व्याकुलता की मात्रा बहुत ही बढ़ जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे प्रेमी का वियोग-ताप वर्षा में और भी अधिक भीषणता धारण करता है। उस समय वह उसे प्रायः पागल बना देता है। उसी समय इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि इस प्रेमी का प्रेम कैसा है और यह अपनी प्रेयसी को कितना चाहता है। कालिदास ने इस काव्य में आदर्श प्रेम का चित्र खींचा है। उस चित्र को सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक करने के लिये यक्ष को नायक बनाकर कालिदास ने अपने कवि-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। अतएव आप यह न समझिये कि कवि ने यों ही, बिना किसी कारण के, विप्रयोग-शृङ्गार वर्णन करने के लिये, यक्ष का आश्रय लिया है।

विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देखकर वह मुसकरा देता है। क्योंकि इन सबको उसके सामने हार माननी पड़ती है। मेघदूत का प्रेमी निर्व्याज

प्रेमी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार है; उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है कि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकारों के लिये जगह ही नहीं। यक्ष को उसके स्वामी कुबेर ने देश से निकाल दिया। परन्तु उसने इस कारण, अपने स्वामी पर ज़रा भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उसको एक भी बुरे और कड़े शब्द से याद नहीं किया। उसकी सारी विप्रयोग पीड़ा का कारण कुबेर था। प उसकी निन्दा करने का उसे ख़याल तक नहीं हुआ। फिर, देखिए, उसने अपनी मूर्खता पर भी आक्रोश-विक्रोश नहीं किया। यदि वह अपने काम में असाव धानता न करता तो क्यों वह अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया जाता। अपने सारे दुःख-शोक का आदि-कारण वह खुद ही था। परन्तु इसका भी उसे कुछ ख्याल नहीं। उसने अपने को भी नहीं धिक्कारा। वह धिक्कारता कैसे? उसके हृदय में इस प्रकार के भावों के लिए जगह ही न थी। उसका हृदय तो अपनी प्रेयसी के निर्व्याज प्रेम से ऊपर तक लबालब भरा हुआ था। वहाँ पर दूसरे विकार रह कैसे सकते थे?

जो ऐसे सच्चे प्रेम-मद से मत्त हो रहा है, जिसकी सारी इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों से खिंचकर एक मात्र प्रेम-रस में सर्वतोभाव से डूब रही हैं जिसके प्रेम-परिपूर्ण हृदय में और कोई सांसारिक भावनायें या वासना आने का साहस तक नहीं कर सकतीं, वह यदि अचेतन मेघ को दूत बनावे और उसके द्वारा अपनी प्रेयसी के पास अपना सन्देश भेजे तो आश्चर्य ही क्या? जो मत्त है और जो संसार की प्रत्येक वस्तु में अपने प्रेम पात्र को देख रहा है उसे यदि जड़-चेतन का भेद मालूम रहे तो फिर उसके प्रेम की उच्चता कैसे स्थिर रह सकती है? वह प्रेम ही क्या जो इस तरह के भेद भाव को दूर न कर दे। कीट-योनि में उत्पन्न पतङ्गों के लिए दीप-शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुण से रहित मालूम होती है। महाप्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतना का खयाल न रहे तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं फिर, क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज़ है? वह मेघदूत के आरम्भ ही में कहता है—

> "घाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह
> ऐसो घन कैसे दूत-काज भुगतावेगो।
> नेह को सँदेशो हाथ चातुर पठैबो जोग
> बादर कहो जी ताहि कैसे कै सुनावेगो॥

बाढ़ी उत्कण्ठा जत्त-बुद्धि बिसरानी सब
वाही सों निहोर्‌यो जानि काज कर आवेगो ।
कामातुर होत हैं सदाई मति-हीन तिन्हें
चेत और अचेत माँहि भेद कहाँ पावेगो ॥"

उस समय यक्ष को केवल अपनी प्रेयसी का खयाल था। वही उसके तन और मन में बसी हुई थी। अन्य सांसारिक ज्ञान उसके चित्त से एक दम तिरोहित हो गया था। वह एक प्रकार की समाधि में निमग्न था। इस समाधिस्थ अवस्था में यदि उसने निर्जीव मेघ को दूत कल्पना किया तो ऐसी बात नहीं जो समझ में न आ सके। कवि का काम वैज्ञानिक के काम से भिन्न है। वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में देखता है। परन्तु यदि कवि ऐसा करे तो उसकी कविता का सौन्दर्य, प्रायः सारा, विनष्ट हो जाय। कवि को आविष्कर्ता या कल्पक न समझना चाहिये। उसकी सृष्टि ही दूसरी है। वह निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव कर सकता है। अतएव मध्यभारत से हिमालय की तरफ़ जानेवाले पवन-प्रेरित मेघ को सन्देश-वाहक बनाना ज़रा भी अनौचित्य-दर्शक नहीं। फिर एक बात और भी है। कवि का यह आशय नहीं कि मेघ सचमुच ही यक्ष का सन्देश ले जाय। उसने इस बहाने विप्रयुक्त यक्ष की अवस्था का वर्णन मात्र किया है और उसके द्वारा यह दिखाया है कि इस तरह के सच्चे वियोगी प्रेमियों के हृदय की क्या दशा होती है; उन्हें कैसी-कैसी बातें सूझती हैं, और उन्हें अपने प्रेमपात्र तक अपना कुशलवृत्त पहुँचाने की कितनी उत्कण्ठा होती है।

यक्ष को अपने मरने-जीने का कुछ खयाल न था। ख़याल उसे था केवल अपनी प्रियतमा के जीवन का। 'दयिताजीवतालम्बनार्थम्'—ही उसने सन्देश भेजा था। उसकी दयिता का जीवन उसके जीवन पर अवलम्बित था। उसके मरने अथवा जीवित होने में सन्देह उत्पन्न होने से उसकी दयिता जीती न रह सकती थी। अतएव यक्ष का सन्देश उसकी यक्षिणी को जीती रखने की रामबाण ओषधि थी। यह ओषधि वह जिसके द्वारा पहुँचाना चाहता था उसके सुख-दुःख का भी उसे बहुत ख़याल था। इसीसे उसने मेघ के लिए ऐसा मार्ग बतलाया जिससे जाने में ज़रा भी कष्ट न हो। उसके मार्ग-श्रम का परिहार होता रहे, अच्छे-अच्छे दृश्य भी उसे देखने को मिलें, और देवताओं और तीर्थों के दर्शन भी हों। ऐसा न होने से मेघ भी क्यों उसका सन्देश पहुँचाने को राज़ी होता? फिर, एक बात और भी है। विरह-कातर यक्ष का

सन्देश उसकी प्रियतमा तक पहुँचा कर उसे जीवन-दान देना कुछ कम पुण्य का काम नहीं। संसार में परोपकार की बड़ी महिमा है। उसे करने का मौका भी मेघ को मिल रहा है। फिर भला क्यों न वह यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए राज़ी होता। रामगिरि से अलका तक जाने में विदिशा, उज्जयिनी, अवन्ती, कनखल, रेवा, सिप्रा, भागीरथी, कैलास आदि नगरों, नदियों और पर्वतों के रमणीय दृश्यों का वर्णन कालिदास ने किया है। उन्हें देखने की किसे उत्कण्ठा न होगी? कौन ऐसा हृदयहीन होगा जो उज्जयिनी में महाकाल और कैलास में शंकर-पार्वती के दर्शनों से अपनी आत्मा को पावन करने की इच्छा न रक्खे? कौन ऐसा आत्म-शत्रु होगा जो जङ्गल में लगी हुई आग को जल की धारा से शान्त करके चमरी आदि पशुओं को जल जाने से बचाने का पुण्य-सञ्चय करना न चाहे? मार्ग रमणीय, देवताओं और तीर्थों के दर्शन, परोपकार करने के साधन—ये सब ऐसी बातें हैं जिनके लिए मूढ़ मनुष्य भी थोड़ा-बहुत कष्ट खुशी से उठा सकता है। मेघ की आत्मा तो आर्द्र होती है; सन्तप्तों को सुखी करना उसका बिरुद है। अतएव वह यक्ष का सन्देश प्रसन्नता-पूर्वक पहुँचाने को तैयार हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

अपनी प्रियतमा को जीवित रखने में सहायता देने वाले मेघ के लिए यक्ष ने जो ऐसा श्रमहारक और सुखद मार्ग बतलाया है वह उसके हृदय के औदार्य्य का दर्शक है। कालिदास ने इस विषय में जो कवि-कौशल दिखाया है उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि मेघ का मार्ग सुखकर न होता—और, याद रखिए, उसे बहुत दूर जाना था—तो कौन आश्चर्य जो वह अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचता। और, इस दशा में, यक्षिणी की क्या गति होती, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। इसी दुःखद दुर्घटना को टालने के लिए ऐसे अच्छे मार्ग की कल्पना कवि ने की है।

आप कहेंगे, यह निर्व्याज प्रेम कैसा कि यक्ष ने, सन्देश में, अपनी वियोगिनी पत्नी का कुशल-समाचार तो पीछे पूछा, पहले अपने ही को 'अव्यापन्नः' कहकर अपना कुशल-वृत्त बतलाने और अपनी ही वियोग-व्यथा वर्णन करने लगा। इससे तो यही सूचित होता है कि उसे अपने सुख-दुःख का अधिक ख़याल था, यक्षिणी के सुख-दुःख का बहुत ही कम। नहीं, ऐसा न कहिए। यक्ष का यह काम उलटा आपके इस अनुमान का खण्डन करता है। आप इस बात को भूल गये हैं कि यक्षिणी का जीवन यक्ष के जीवन पर ही अवलम्बित है। उसमें संशय उत्पन्न होने से वह जीवित नहीं रह सकती। मेघदूत

को पढ़ कर यदि आपने इतना भी न जाना तो कुछ न जाना। यक्षिणी के प्राणावलम्ब का हेतु यक्ष है। अतएव उसी के कुशल-समाचार सुनने से यक्षिणी अपना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकती है। यक्ष को स्वार्थी न समझिए। वह अपनी दशा का वर्णन करके अपनी स्वार्थपरता नहीं प्रकट करता। वह अपनी दयिता के जीवन को नष्ट होने से बचाने की दवा कर रहा है। यक्ष के सन्देश की पहली पंक्ति है—

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे मामम्बुवाहम्"।

आप देखिए, इसमें यक्ष ने 'भर्तुः' पद रख कर पूर्वोक्त आशय को कितनी स्पष्टता से प्रकट किया है। जान-बूझकर उसने सन्देश के आदि ही में पति-शब्द का वाचक भर्तु-शब्द इसीलिए रक्खा है जिसमें यक्षिणी को तत्काल इसका ज्ञान हो जाय कि मेरा पति जीवित है। वियोगिनी पतिव्रताओं के कान में यह शब्द जैसा अमृतवर्षा करता है उसका अन्दाजा सभी सहृदय कर सकते हैं। कवि यदि चाहता तो 'भर्तुर्मित्रं' की जगह 'मित्रं भर्तुः' कर सकता था। उससे भी छन्द की गति में व्याघात न आता। परन्तु नहीं, उसने यक्षिणी के कान में सबसे पहिले 'भर्तुः' का सुनाना ही उचित समझा।

पूर्वोक्त पंक्ति में 'भर्तुः' का समकक्ष और अर्थ-विशेष से भरा हुआ 'अविधवे' पद भी है। सन्देश की पहली पंक्ति में इसके रखने का भी कारण है। यक्ष ने इसके द्वारा अपनी सहधर्मचारिणी को यह सूचित किया है कि तू विधवा नहीं हो गई—सौभाग्यवती बनी हुई है; तेरा स्वामी अब तक जीता है। इससे अधिक आनन्ददायक समाचार स्त्री—और पतिप्राणा स्त्री—के लिए और क्या हो सकता है? यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी के लिए सचमुच ही 'श्रोत्रपेय' है।

स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि उनके पति के प्रेम का छोटे से छोटा अंश भी कोई और ले जाय। वे उसके सर्वांश पर अपना अधिकार समझती हैं। वियोगावस्था में उन्हें अपने इस अधिकार के छिन जाने का डर रहता है। यक्ष इस बात को अच्छी तरह जानता है। इसके परिणाम से भी वह अनभिज्ञ नहीं। यही कारण है जो वह अपनी वियोग-कातरता का कारुणिक वर्णन कर रहा है। यही कारण है जो वह छोटी-छोटी चीज़ों में भी अपनी पत्नी की सदृशता ढूँढ़ रहा है। यही कारण है जो वह उत्तर-दिशा से आये हुए सुरभित पवन के स्पर्श को भी बहुत कुछ समझ रहा है। वह यह बतला रहा है कि

दूर हो जाने से मेरे प्रेम में कमी नहीं हो गई; प्रत्युत वह पहले से भी अधिक प्रगाढ़ हो गया है। अतएव तू अपने मन में किसी प्रकार की अनुचित आशङ्का को स्थान न दे।

यक्ष के निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह अपने कुशल-समाचार भेजकर और अपनी विरह-व्याकुलता का वर्णन करके ही चुप नहीं रहा। उसे शङ्का हुई कि कहीं मेरी पत्नी इस सन्देश को बनावटी न समझे; प्रेमियों की दशा बड़ी ही विचित्र होती है; वे न कुछ को बहुत कुछ समझने लगते हैं और हवा में गाँठें लगाना भी वे खूब ही जानते हैं। यक्ष की अजीब अवस्था है। उसे डर है कि कहीं ऐसा न हो कि इतना आश्वासन देने पर भी यक्षिणी इन बातों पर पूर्ण विश्वास न करे। अतएव इस सन्देह का भंजन करना भी उसने आवश्यक समझा। इसीलिए उसे सन्देश में यह कहना पड़ा—

"और कहूँ सुनि एक दिना हियरा लगि मेरे तू सोई रही
आवत नींद न बेर भई जगि औचक रोय उठी तबही।
पूछी जु मैं धन बारहिबार तो तैं मुसकाइ के ऐसे कही
देखति ही सपने छलिया तुमने एक सौति की बाँह गही॥"

अब सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यक्ष के जीवित होने का इससे अधिक विश्वसनीय प्रमाण और क्या हो सकता है?

मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी-सम्बन्धी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है। यक्ष अपने और अपनी प्रेयसी के जीवन को अन्योन्याश्रित समझता है। यक्ष जिस तरह अपना सन्देश भेजकर पत्नी की प्राण-रक्षा करना चाहता है उसी तरह, बहुत सम्भव है, उसकी पत्नी भी वियुक्त होने के कारण पति की प्राण-धारणा के विषय में सशङ्क रही होगी। प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है, प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है—इसके कितने ही उदाहरण इस देश में पाये जाते हैं। गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। अन्यथा—**नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा। ध्यानेन यामि पदयोः पदवीं सखेते॥** उनके मुख से कभी न निकलता। अतएव प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को भी जान सकेगा।

परन्तु, जो लोग उस रास्ते नहीं गये उनके मनोरंजन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री मेघदूत में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुञ्ज देखने को मिलेंगे जिनमें वनचरों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षा-ऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने देखी है? विदिशा की वेत्रवती की लहरों का भ्रू-भङ्ग कभी आपने अवलोकन किया है? उस प्रान्त के उपवनों में चमेली की कलियों को चुननेवाली पुष्पलावियों से आपका कभी परिचय हुआ है? नहीं, तो आप मेघदूत पढ़िए। उज्जैन की यदि आप सैर करना चाहें, उदयन का यदि कीर्तिगान सुनना चाहें, तो आप और कहीं न जाइए। आप सिर्फ मेघदूत पढ़िए। प्राचीन दशपुर, प्राचीन ब्रह्मावर्त, प्राचीन कनखल, प्राचीन कैलास, प्राचीन अलका के दर्शन अब दुर्लभ हैं। तथापि उनकी छाया मेघदूत में है। पाठक! आपने इनको न देखा हो तो मेघदूत में देखिए।

काव्य-साहित्य के उपकरण

श्यामसुन्दर दास

यह संसार असंख्य जीवधारियों की निवास-भूमि है। प्रत्येक जीव आत्मवान् है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये आत्मा की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव आत्मवान् है उसी प्रकार प्रत्येक में अनात्मभाव भी है। आत्म और अनात्म के सम्मिश्रण से ही जीवमात्र की रचना हुई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को 'जड़चेतन की ग्रंथि' कहकर अपना प्रसिद्ध रूपक बाँधा है। संसार का संसरण इसी सम्मिश्रण का रूप है। आत्म और अनात्म दोनों ही परमात्मा में हैं जिसकी लीला का यह संसार हमारी आँखों के सामने फैला हुआ है। जितने जीवधारी हैं सबमें आत्मभाव और अनात्मभाव भिन्न-भिन्न मात्राओं में व्याप्त हो रहा है। इसीलिए जीवों के अगणित रूप हैं। एक परमात्मा का यह अगणित रूप "एकोऽहं बहुस्याम्" के श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है। किसी जीव में आत्मभाव प्रबल है, किसी में अनात्मभाव प्रबल है। इन्हीं जीवों से एक राष्ट्र का, एक संसार का, एक समष्टि का निर्माण होता है। इसलिए हम बहुधा किसी राष्ट्र को सतोन्मुख और किसी को असतोन्मुख कहते हैं, संसार में कभी सतयुग और कभी कलियुग का प्रवेश बतलाते हैं और समष्टि-चक्र में कभी आत्मा की तथा कभी अनात्मा की अधिकता पाते हैं। मूल में पहुँचने पर हम प्रत्येक जीव के आत्मभाव और अनात्मभाव का दर्शन करते हैं, जिनके संयोग से यह बहुरूपी संसार भास रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मभाव और अनात्मभाव क्या है जिनका सम्मिश्रित रूप हम भिन्न-भिन्न जीवों में देख रहे हैं। क्यों हम किसी जीव को साधु तथा सदाचारी और किसी अन्य को असाधु तथा दुराचारी कहते हैं। आज एक व्यक्ति हमारे सामने आता है जो आत्महत्या करने को तैयार है। उसकी बातें किस प्रकार की होती हैं? वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, केवल जड़ संसार सब को घेरे हुए है। संसार में न्याय कहीं नहीं, क्लेश सर्वत्र है। आचार के स्थान पर दुराचार और न्याय के स्थान पर अत्याचार का ही व्यापार सब ओर फैल रहा है। आज यह सुन लेने के बाद कल किसी दूसरे

जीव से आप की भेंट होती है। वह कहता है, आत्मा ही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सत्य ही संसार का स्वरूप है। सत्य ही आचार है। अब इन दोनों जीवों के वचनों की तुलना कीजिए। एक में आप अनात्मभाव की पराकाष्ठा और दूसरे में आत्मभाव का विशद रूप देखते हैं। ऊपर तो हमने केवल दो उदाहरण लेकर आत्म और अनात्म का विभेद दिखाने की चेष्टा की है। वास्तविक संसार में तो यह विभेद बहुतों को दृष्टिगोचर भी नहीं होता। जितने जीव हैं सब में ये दोनों भाव भिन्न-भिन्न मात्राओं में व्याप रहे हैं, जिनका आदि-अंत मिलना बहुत ही कठिन है। प्रश्न यह है कि आत्म और अनात्म का भेद क्या है, स्वरूप क्या है, पहचान क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से दिया है;पर उन सबका प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नहीं है। हमारे लिए तो यही जान लेना पर्याप्त है कि आत्म और अनात्म का भेद संसार में दिखाई देता है और इस भेद के अन्तर्गत उसके अगणित उपभेद मिलते हैं। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' आदि अनेक उक्तियों में इसी भेद की ध्वनि भरी हुई है। आत्म और अनात्म का स्वरूप क्या है, यह हम ऊपर के उदाहरण में प्रकट कर चुके हैं। इन दोनों के मुख्य-मुख्य लक्षणों के संबन्ध में पंडितों ने प्रकाश डाला है। आत्मा का गुण आनन्दमय ठहराया गया है। आनन्द का विस्तार, प्रसार, उन्नयन—ये आत्मिक क्रियाएँ कही गई हैं। इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएँ अनात्मा की मानी गई हैं। किसी जीवधारी में आनन्द का आधिक्य होता है, किसी में उसकी न्यूनता होती है, किसी अन्य में इसके विपरीत भाव देख पड़ते हैं। इसी चक्र से संसार चल रहा है।

आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। आत्म और अनात्म के सहित—यही साहित्य की सबसे सत्य व्याख्या हो सकती है। जैसे नित्य-प्रति के जीवन में हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तियाँ आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्म और अनात्म के अगणित द्विधा भेदों के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वैसे ही साहित्य में भी। जीवन में जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ हैं, साहित्य में वे ही स्थायी भाव हैं। जीवन में जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपने आनन्द का विस्तार करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप 'रस' प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश, जाति

ाथवा राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है और
ास प्रकार प्रत्येक व्यक्ति संसार में अपने जीवन को अपने ही पथ पर ले चलता
ौर आप ही अपना विकास करता है उसी प्रकार साहित्य में भी समष्टि रूप से
बके योग्य सामग्री और सबके विकास के साधन रहते हैं। सारांश यह कि
मारा साहित्य भी हमारे सृष्टि-चक्र के तुल्य ही नानात्व के सहित है। यदि ऐसा
होता तो उसका साहित्य नाम कैसे सार्थक होता? हमारी समझ में चैतन्य
नुष्य ने अपने अनुरूप ही साहित्य की यह सजीव प्रतिमा निर्मित की है।

दिव्यदृष्टि कवि तुलसीदास ने 'भावभेद रसभेद अपारा' कहकर रामायण
; आरम्भ में काव्य और साहित्य की वास्तविक दिशा इंगित की है। यह विश्व-
ाक्र भारतीय दर्शन द्वारा भावमय माना जाता है। पाश्चात्य शास्त्र भी भावजगत्
ो स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। पश्चिम के विद्वानों में इस विषय को लेकर शता-
ब्दियों तक मतवाद चला; परन्तु प्रारम्भ से ही अनेक दार्शनिकों को यह आभास
ेलता रहा है कि मनुष्य की बौद्धिक, काल्पनिक आदि शक्तियाँ भावजगत् की
ृष्टि में योग तो देती हैं परन्तु वह भावजगत् अपनी पूर्णता में निर्विकल्प
ौर अद्वैत है। यूरोप में इस विषय का शास्त्रीय निर्धारण करनेवाले दार्शनिकों
ं प्रमुख इटली का क्रोस है, जिसने अनेक प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया
कि यद्यपि कारण-रूप से मनुष्य की चैतन्य वृत्तियाँ अनेक रूपों द्वारा भाव-
ागत् का निर्माण करती हैं, कभी बाह्य सृष्टि की वस्तुएँ, कभी अपने ही अंतर
ी कल्पनाएँ मनुष्य को भावमय बनाती हैं; परन्तु इससे यह न समझना चाहिए
के भावजगत् किन्हीं अन्य उपकरणों पर अवलम्बित अपने निजत्व में अपूर्ण
। वह सब प्रकार से अपने में पूर्ण और निरपेक्ष है। भावों की यह अप्रतिहत
ारा सारी सृष्टि को सजीव बना रही है। साहित्य इसी व्यापक भावचक्र के
हित है। व्यष्टि-रूप से एक-एक काव्य-कृति का सम्बन्ध उसके रचयिता और
सके उन भावों से है जिन्हें उसने उस अपार भाव-भेद से लेकर कृति-विशेष में
चित किया है। भिन्न-भिन्न रचनाकार अपनी विभिन्न काव्य-रचनाओं में उसी
ापार भाव-भेद की निधि से अपने मनोनुकूल मणिरत्न चयन करते हैं और
ग-युग में यही क्रिया संतत क्रियमाण होती रहती है। इसी क्रिया का सामूहिक
तिफल साहित्य कहलाता है। अतः साहित्य को भाव-जगत् का प्रतीक भी कह
कते हैं। काव्य में व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार भावों की एक
ियमित मात्रा ही एक विशेष भाषा और परिमित शब्द-शक्ति द्वारा प्रकट करता
। युग-युग में संचित होकर यही काव्य-कृतियाँ साहित्य का रूप धारण करती

हैं और वही भाव-राशि देश तथा जाति की संस्कृति और सभ्यता की माप-रेखा बनकर अपना अस्तित्व दृढ़ करती है।

सौन्दर्य

निस्सीम भावजगत् से, जिसे गोस्वामी जी ने 'अपार भावभेद' का विशेषण दिया है, यथेच्छ भाव-राशि चुनकर सज्जित करना ही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। यहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि चयन और साज-सज्जा प्रत्येक काव्य की प्राथमिक विशेषताएँ हैं। इन दोनों के विभेद प्रायः अगणित होते हैं। इस दृष्टि से काव्य का कोई एक स्वरूप-निर्धारण नहीं किया जा सकता। केवल उसके प्रमुख उपकरण जाने जा सकते हैं। एक व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति करना चाहता है। अर्थात् उसकी इच्छा काव्य रचने की होती है। वह प्रथम बार एक प्रकार के शब्दों तथा वाक्य-समुच्चयों का प्रयोग करता है; पर उसे संतोष नहीं होता; क्योंकि वे शब्द तथा वे वाक्य-समुच्चय उसके भावों को व्यक्त करने में असफल और असमर्थ होते हैं। वह पुनः प्रयत्न करता है। इस बार दूसरे शब्दों तथा छंदों आदि से काम लेता है। फिर भी अभिव्यक्ति का स्वरूप उसे असुन्दर जान पड़ता है। अनेक बार प्रयत्न करने के बाद एक बार आप से आप उसकी लेखनी से प्रकृत रचना फूट निकलती है। वह इसका आनंद लेता है और कुछ काल के लिए भावमग्न हो जाता है। इसलिए कि उसकी अभिव्यक्ति यथेष्ट और सुन्दर हुई है।

ऊपर के विचार से 'सुन्दर' यही काव्य का मौलिक उपकरण सिद्ध होता है। पर यह 'सुन्दर' वास्तव में क्या है? कलाकार ने प्रथम कई बार प्रयत्न करके जो अभिव्यक्ति की वह सुन्दर नहीं हुई। अन्त में एक बार वह सुन्दर हो गई। उससे उसे आनन्द भी प्राप्त हुआ। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन-सी विशेषता है जो उसकी अन्तिम बार की अभिव्यक्ति को सुन्दर बना देती है, जिसके अभाव में प्रथम कई बार के उसके प्रयास असुन्दर कहे गए। इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं है। पाश्चात्य पंडितों ने काव्यगत 'सुन्दर' की व्याख्या करने में बहुत अधिक शक्ति और अधिक समय लगाया; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे सफल हुए। हमारे संस्कृत वाङ्मय में अनेक साहित्यिक संप्रदायों ने अनेक प्रकार से उक्त सौन्दर्य पर प्रकाश डालना चाहा; परन्तु इस अनेकता में ही वास्तविक तथ्य छिपा रह गया। काव्यकार की वह अभिव्यक्ति जो उसे सुन्दर प्रतीत हुई है जिसका उसने सम्यक् आनन्द लिया है यदि किसी काव्य-समीक्षक

को दी जाय तो संभव है उस समीक्षक को वह सुन्दर प्रतीत हो अथवा न भी प्रतीत हो। यदि वह एक समीक्षक को सुन्दर प्रतीत हो तो संभव है कि दूसरे समीक्षक को वह वैसी न प्रतीत हो। इस रुचि-भेद का क्या कहीं आदि-अंत है? क्या काव्यगत सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है; और क्या कोई ऐसा काव्य है जो सब देशों में सब कालों में एकसा ही सुन्दर माना गया हो? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है; परन्तु इससे एक बात, जो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी, यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो। जिस प्रकार काव्य में सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या करना असम्भव है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं के संबंध में सुन्दरता का आदर्श निश्चित करना असंभव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावों के द्योतक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, संस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुन्दरता का आदर्श अपने सामने रख लें तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जायगा। किसी देश में छोटे पाँव और छोटी आँखें सुन्दर मानी जाती हैं तो दूसरे देश में सुडौल पैर तथा लंबी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती हैं; कहीं भूरे बाल और कंजी आँखें सुन्दरता-सूचक समझी जाती हैं। दूसरे देशों में काले बाल तथा काली आँखें ही सुन्दरता का आदर्श हैं। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों में इतने भेदों का क्या कारण है? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रमिक विकास जान पड़ता है। सब देशों ने अपने-अपने देवी-देवताओं को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओं ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को सामने रख कर हम प्रत्येक देश की सुन्दरता की कसौटी जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामंजस्य के लिये आवश्यक है। तत्त्व-निर्धारण के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

रमणीय अर्थ

"रस-गंगाधर" नामक संस्कृत ग्रंथ में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की

रमणीयता भी स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि रमणीयता से किस विशेष तत्त्व का बोध होता है जिसकी हम एक निश्चित परिभाषा कर सकें। इस देश के पुराने विद्वानों की यह रीति थी कि वे अपने विचारों को संक्षिप्त से संक्षिप्त शैली में अर्थात् सूत्र, कारिका आदि के रूप में प्रकट करते थे। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उनमें सूत्रकारों की बुद्धि का अपूर्व चमत्कार देख पड़ता है। क्या यह चमत्कार रमणीयता की उपाधि नहीं धारण कर सकता ? विद्वानों के लिए अवश्य ही करता है; परन्तु बहुतों को इनमें कुछ भी रमणीयता नहीं मिलती। जब उन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की जाती है तभी उनकी रमणीयता उन्हें प्रकट होती है। अतएव सूत्ररचना-काल के उपरान्त संस्कृत साहित्य के इतिहास में वह काल आया जब व्यासरूप से विषयों का निरूपण किया जाने लगा। ऐसे निरूपणों में रमणीयता विशेष मात्रा में मानी गई। परन्तु यहाँ भी मात्रा का ही प्रश्न रहा। पश्चिम में भी प्राचीन काल में बहुत से विषयों की व्याख्या सूत्ररूप में ही की जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रणाली टूटती गई। विषय-निरूपण विस्तारपूर्वक किया जाने लगा। काव्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा—"काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिएं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्त्व तथा उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से स्पष्ट ही है। इसी रमणीयता के मोह में पड़कर कुछ कवि या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गए हैं जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिष के ग्रन्थों को भी रमणीय बनाने का बीड़ा उठाया था। उन्होंने उस प्रकार की रचना इस उद्देश से की थी कि लोग उनके ग्रंथों को चाव से पढ़ें। लोलिंबराज कृत वैद्य-जीवन और वैद्यावतंस पुस्तकें ऐसी ही हैं। ये दोनों ही संस्कृत भाषा में हैं। ज्योतिषशास्त्र की भी दो एक पुस्तकें इसी ढंग की हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि उनमें कितनी वास्तविक रमणीयता मिलती है और क्या उन ग्रन्थकारों की वह चेष्टा अनधिकृत नहीं थी ? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र रमणीयता का ही क्षेत्र नहीं बनाया जा सकता और न वैद्यक के ग्रंथ में कविता-पुस्तक की सी रमणीयता लाई जा सकती है। जो विषय शास्त्रीय बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं और जिनसे मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य और रोगोपचार का सम्बन्ध है उन्हें रमणीय बनाने का प्रयास विशेष रूप से कृत्रिम-सा हो जाता है तो भी रमणीयता के सन्निवेश से वे शुष्क विषय भी कुछ न कुछ आकर्षक बन ही जाते हैं। सारांश यह कि

विविध विषयों में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन विविध मात्रा में योग्य अथवा अयोग्य होता है और 'रमणीय अर्थ' स्वयं ही एक सापेक्षिक शब्द है। तथापि इतना तो अवश्य ही प्रकट है कि वह काव्य का एक आवश्यक उपकरण है।

अलंकार और रस

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में अलंकारों की विशेष रूप से योजना की गई है और रस तो काव्य की आत्मा ही माना गया है। अलंकार का प्रयोजन उस अंग-विशेष को अधिक आकर्षक बना देना है जिस पर वह धारण किया जाय। देखनेवाले की आँखें उस अंग-विशेष में गड़ जाँय इसी प्रयोजन से अलंकारों की सार्थकता है। काव्य में भी अनेकानेक अर्थालंकार और शब्दालंकार बनाए गए हैं, जिसमें वे पाठकों का ध्यान उस वर्णन-विशेष की ओर आकर्षित कर दें और उनकी मन की आँखों को उसमें गड़ा दें। इसका परिणाम यह हो कि इससे चित्त किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाय और काव्य रसमय होकर उसके लिए आस्वाद्य बन जाय। धीरे-धीरे उक्त काव्यालंकारों की तालिका बना दी गई और रस की एक पद्धति तैयार कर ली गई। परंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकारों की कोई गणना नहीं की जा सकती और न सीमा बांधी जा सकती है। कभी कभी तो अलंकार काव्य-कामिनी के लिए भार-स्वरूप बन जाते हैं, जिससे उसकी स्वच्छ और नैसर्गिक सुन्दरता तिरोहित हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक युग-विशेष के ग्रन्थकार जिन अलंकारों को सुरुचि के साथ सजाते हैं, दूसरे युग के लेखक उन्हें हेय समझते हैं। परिपाटी के अनुसार जिस प्रसंग में जो अलंकार शोभा के आगार और सुरस का संचार करनेवाले माने गए हैं समय और रुचि के भेद के कुरस का भी प्रसार करते हैं। इसलिए अलंकारों की इयत्ता क्या है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यही बात रसों के लिए भी कही जा सकती है। कथन की कोई शैली, विचारों की कोई उड़ान, जब हृदय को कोई धुंडी खोल देती है और किसी प्रबल मनोवेग से चित्त चमत्कृत हो उठता है तब रस की निष्पत्ति समझी जाती है। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि काव्य में सर्वत्र रस-निष्पत्ति होनी ही चाहिए। रस का परिपाक तो कहीं-कहीं ही अपेक्षित होता है; तभी काव्य की शोभा भी बढ़ती है। अपूर्ण रस के प्रसंग भी काव्य में योज्य होते हैं और उनसे भी काव्य की शोभा होती है। तरुणी के प्रेमालाप का ही मूल्य नहीं है; उसके कटाक्षपात की भी विशेषता माननी पड़ती है। उसी प्रकार

अलंकार और रस भिन्न-भिन्न काव्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उपकरण बनकर आते हैं। यह तो अधिकतर देखा जाता है कि जो भावयोजना एक देश के लिए बड़ी ही सबल और रसमयी है वह दूसरे देश के लिए बहुत ही निर्बल और नीरस होती है। अतः अलंकार और रस को काव्य का आवश्यक उपकरण मानते हुए भी उनका कोई स्थिर रूप प्रदर्शित करना विवाद की परिधि में पदार्पण करना है।

भाषा

कुछ समीक्षक भाषा को भी काव्य का एक उपकरण मानना चाहेंगे; परन्तु विचार करने पर प्रकट होता है कि भाषा काव्य का उपकरण नहीं है। वह काव्य से अभिन्न ही है। भाषा के विना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती और न भावजगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा का कोई दूसरा प्रयोजन जान पड़ता है। भाषाओं की उत्पत्ति के संबंध में भाषा-विज्ञान-विशारदों ने जो सिद्धांत उपस्थित किए हैं उनमें सर्वमान्य सिद्धांत विकासवाद का ही है। जैसे-जैसे भावों की अभिव्यक्ति अधिकाधिक परिमाण में होती गई है वैसे ही भाषाओं का विकास भी होता गया है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि आरम्भ में तो भाषाएँ इसी रूप में विकसित होती गई हैं; पर कुछ काल के अनन्तर जब मनुष्य अधिक सभ्य और भाषा के प्रयोग में अधिक योग्य हो गया तब उसने भाषाओं के नैसर्गिक विकास का आसरा न देखकर एक साथ ही उसे बहुसंख्यक शब्दों से संयुक्त कर दिया। इतिहास में तो इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता; पर यदि यह मान लिया जाय तो भी इससे भाषा-विकास की परम्परा नहीं टूटती और न उसे अभिव्यक्ति-परम्परा से भिन्न मानने की आवश्यकता होती है। जिस किसी विद्वद्वर ने अधिक मात्रा में शब्द गढ़-गढ़ कर भाषा में भरे होंगे उसने उन शब्दों की पर्याय भाव-मूर्त्तियों की कल्पना भी की ही होगी। निरर्थक अथवा भाव-शून्य शब्द तो हो ही नहीं सकते। अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का विकास चाहे क्रमशः हुआ हो अथवा किसी विशेष काल में किसी असाधारण रीति से ही क्यों न हो गया हो; पर भाषा तो अभिव्यक्ति ही है। काव्य भी अभिव्यक्ति है। इसलिए भाषा को काव्य का उपकरण न मानकर उससे एकाकार मानना ही उचित और बुद्धिसंगत है।

इस मत का अपवाद नाटकों के अभिनय में मिलता है। अभिनय के लिए जो रूपक लिखे जाते हैं उनकी अभिव्यक्ति केवल भाषा द्वारा ही नहीं

को दी जाय तो संभव है उस समीक्षक को वह सुन्दर प्रतीत हो अथवा न भी प्रतीत हो। यदि वह एक समीक्षक को सुन्दर प्रतीत हो तो संभव है कि दूसरे समीक्षक को वह वैसी न प्रतीत हो। इस रुचि-भेद का क्या कहीं आदि-अंत है? क्या काव्यगत सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है; और क्या कोई ऐसा काव्य है जो सब देशों में सब कालों में एकसा ही सुन्दर माना गया हो? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है; परन्तु इससे एक बात, जो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी, यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो। जिस प्रकार काव्य में सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या करना असम्भव है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं के संबंध में सुन्दरता का आदर्श निश्चित करना असंभव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावों के द्योतक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, संस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुन्दरता का आदर्श अपने सामने रख लें तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जायगा। किसी देश में छोटे पाँव और छोटी आँखें सुन्दर मानी जाती हैं तो दूसरे देश में सुडौल पैर तथा लंबी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती हैं; कहीं भूरे बाल और कंजी आँखें सुन्दरता-सूचक समझी जाती हैं। दूसरे देशों में काले बाल तथा काली आँखें ही सुन्दरता का आदर्श हैं। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों में इतने भेदों का क्या कारण है? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रमिक विकास जान पड़ता है। सब देशों ने अपने-अपने देवी-देवताओं को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओं ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को सामने रख कर हम प्रत्येक देश की सुन्दरता की कसौटी जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामंजस्य के लिये आवश्यक है। तत्त्व-निर्धारण के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

रमणीय अर्थ

"रस-गंगाधर" नामक संस्कृत ग्रंथ में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की

को दी जाय तो संभव है उस समीक्षक को वह सुन्दर प्रतीत हो अथवा न भी प्रतीत हो। यदि वह एक समीक्षक को सुन्दर प्रतीत हो तो संभव है कि दूसरे समीक्षक को वह वैसी न प्रतीत हो। इस रुचि-भेद का क्या कहीं आदि-अंत है? क्या काव्यगत सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है; और क्या कोई ऐसा काव्य है जो सब देशों में सब कालों में एकसा ही सुन्दर माना गया हो? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है; परन्तु इससे एक बात, जो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी, यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो। जिस प्रकार काव्य में सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या करना असम्भव है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं के संबंध में सुन्दरता का आदर्श निश्चित करना असंभव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावों के द्योतक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, संस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुन्दरता का आदर्श अपने सामने रख लें तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जायगा। किसी देश में छोटे पाँव और छोटी आँखें सुन्दर मानी जाती हैं तो दूसरे देश में सुडौल पैर तथा लंबी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती हैं; कहीं भूरे बाल और कंजी आँखें सुन्दरता-सूचक समझी जाती हैं। दूसरे देशों में काले बाल तथा काली आँखें ही सुन्दरता का आदर्श हैं। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों में इतने भेदों का क्या कारण है? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रमिक विकास जान पड़ता है। सब देशों ने अपने-अपने देवी-देवताओं को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओं ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को सामने रख कर हम प्रत्येक देश की सुन्दरता की कसौटी जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामंजस्य के लिये आवश्यक है। तत्त्व-निर्धारण के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

रमणीय अर्थ

"रस-गंगाधर" नामक संस्कृत ग्रंथ में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की

होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लंबाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई का भी वैसा ही प्रभाव हम पर पड़ता है। अतएव अत्युक्ति अलंकार में असत्यता का आरोप करना काव्य के मूल उद्देश्य की उपेक्षा करना है।

काव्य के कितने ही अंतर्भेद किए गए हैं। पहले तो गद्य, पद्य और चम्पू की तीन शैलियाँ संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने अलग-अलग की हैं। फिर दृश्य और श्रव्य काव्य अथवा कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि भेद हुए। कविता में गीतकाव्य, खंड काव्य, महाकाव्य आदि। फिर छंदों की अगणित शृङ्खलाएँ और मुक्त वृत्त, गद्य निबंध, इतिहास, नाना शास्त्र, विद्याएँ और उनके अनेक अंग-उपांग—ये सब भेद-उपभेद मिलकर संख्याहीन बन जाते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति की कौन सी इयत्ता है? चित्रकला की रेखाओं का क्या लेखा है? कितने रंगरूप हैं? सब मिलकर एक अखंड अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। अवश्य ही यह अभिव्यक्ति-परंपरा जगत् की एक शाश्वत और अनिर्वचनीय विभूति है, जिसका हम 'साहित्य' कहकर निर्वचन करते हैं।

लोकहित

महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के तीन गुणों का आरोप जब से काव्य-साहित्य में किया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार में इन तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया जाता है। परन्तु जिन्होंने इस विषय में कुछ गंभीर विचार किया है और तथ्य को जानने की चेष्टा की है वे समझते हैं कि सौन्दर्य तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग हैं; परन्तु उसके 'शिवत्व' 'लोकहित' आदि के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। आधुनिक यूरोप में इस विषय को लेकर अपरंपार विवाद किए गए हैं। कुछ विद्वानों ने लोक-हित को काव्य-विवेचन से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सीमा में अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगों ने काव्य को लोकहित का साधन मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणों की अवहेलना कर दी है। इन परस्पर-विरोधी मतों के मध्यस्थ कितने ही अन्य मत खड़े हुए हैं जिन्होंने बड़े सुदृढ़ आधारों पर अपना अड्डा जमाया है। हम कह सकते हैं कि काव्य में यही एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष से विचार किया गया है।

जो विद्वान् काव्य और कलाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार

करते हैं वे कहते हैं कि कलाएँ भी इस जगत् की ही भांति निरन्तर विकास कर रही हैं। यूरोप के प्राचीन काल की कलावस्तुओं का अध्ययन करने वालों ने असभ्य या बर्बर कला का विवरण उपस्थित किया है। उस समय कला-सामग्री का विशेष रूप से अभाव था। अतः उसका विकास भी सीमित क्षेत्र में ही हुआ था। यद्यपि उस बर्बर काल की कला-वस्तुओं का ठीक-ठीक अध्ययन अब भी नहीं किया जा सका है; परन्तु विद्वानों का मत है कि आचार, लोकहित आदि की वर्तमान धारणाओं का उनमें नितान्त अभाव है और उनका सौन्दर्य भी अतिशय निम्नकोटि का है। उस काल के उपरान्त यूरोप में कलाओं के विकास का मध्यकाल आया, जिसे वहाँ वाले कलाओं का स्वर्णयुग कहते हैं। सौन्दर्य और स्वाभाविकता की इतनी प्रचुर मात्रा के सहित उनका निर्माण किया गया है कि उन्हें देखकर उदात्त भावों का संचार हुए बिना नहीं रहता। कलाकार की रचना-चातुरी के सामने हमें सिर झुकाना पड़ता है। क्रिश्चियन मतावलंबी उस काल की मूर्तियों को अपनी धार्मिक दृष्टि से भी देखते हैं और उनमें धर्मतत्त्व का अनुभव भी करते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस बर्बर काल की कलावस्तुओं में हमें कोई सौन्दर्य या सुरुचि नहीं मिलती तो क्या उसके निर्माताओं के हृदय में भी वे भावनाएँ नहीं थीं? थीं, परन्तु अविकसित रूप में थीं। मध्यकाल की धार्मिक प्रेरणा से कला का जो सुन्दर विकास हुआ उससे तो प्रकट होता है कि बाइबल की धर्मपुस्तक और तज्जन्य उदात्त भावनाएँ कला के विकास में सहायक हुईं। वे इतने प्रबल रूप से सहायक हुईं कि उस काल की कला के उत्कर्ष को परवर्त्ती कलावस्तुएँ भी नहीं प्राप्त कर सकीं। इस अध्ययन से विद्वानों का निष्कर्ष यह निकला है कि कला का सौन्दर्य और उसका असाधारण सत्य ही उसकी मुख्य अंतरंग विशेषता होती है और धार्मिक तथा अन्य उपकरण कलाकार के व्यक्तित्त्व में अथवा देश-काल के वातावरण में प्रवेश कर कला के सौन्दर्य और सत्य का उन्मेष करते हैं।

भारत में बौद्धकाल की, तंत्रकाल की तथा गुप्त-काल की मूर्त्तियों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों को उनमें उन कालों के धार्मिक, सामाजिक तथा आचार-संबंधी छाप मिलती ही है। बहुत सी मूर्तियों की रचना तो बौद्ध जातकों, तांत्रिक और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं का आधार लेकर की गई हैं। किसी देश, काल अथवा जाति के विचारों की ऐसी परम्परा बन जाती है और उस परंपरा का इतना बलशाली प्रभाव पड़ता है कि कलाओं का विकास बन्द हो जाता है। इस्लाम की धर्मपुस्तकों में एकेश्वरवाद की जो भावना दृढ़ हुई और

होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लंबाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई का भी वैसा ही प्रभाव हम पर पड़ता है। अतएव अत्युक्ति अलंकार में असत्यता का आरोप करना काव्य के मूल उद्देश्य की उपेक्षा करना है।

काव्य के कितने ही अंतर्भेद किए गए हैं। पहले तो गद्य, पद्य और चम्पू की तीन शैलियाँ संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने अलग-अलग की हैं। फिर दृश्य और श्रव्य काव्य अथवा कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि भेद हुए। कविता में गीतकाव्य, खंड काव्य, महाकाव्य आदि। फिर छंदों की अगणित शृङ्खलाएँ और मुक्त वृत्त, गद्य निबंध, इतिहास, नाना शास्त्र, विद्याएँ और उनके अनेक अंग-उपांग—ये सब भेद उपभेद मिलकर संख्याहीन बन जाते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति की कौन सी इयत्ता है? चित्रकला की रेखाओं का क्या लेखा है? कितने रंगरूप हैं? सब मिलकर एक अखंड अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। अवश्य ही यह अभिव्यक्ति-परंपरा जगत् की एक शाश्वत और अनिर्वचनीय विभूति है, जिसका हम 'साहित्य' कहकर निर्वचन करते हैं।

लोकहित

महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के तीन गुणों का आरोप जब से काव्य-साहित्य में किया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार में इन तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया जाता है। परन्तु जिन्होंने इस विषय में कुछ गंभीर विचार किया है और तथ्य को जानने की चेष्टा की है वे समझते हैं कि सौन्दर्य तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग हैं; परन्तु उसके 'शिवत्व' 'लोकहित' आदि के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। आधुनिक यूरोप में इस विषय को लेकर अपरंपार विवाद किए गए हैं। कुछ विद्वानों ने लोक-हित को काव्य-विवेचन से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सीमा में अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगों ने काव्य को लोकहित का साधन मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणों की अवहेलना कर दी है। इन परस्पर-विरोधी मतों के मध्यस्थ कितने ही अन्य मत खड़े हुए हैं जिन्होंने बड़े सुदृढ़ आधारों पर अपना अड्डा जमाया है। हम कह सकते हैं कि काव्य में यही एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष से विचार किया गया है।

जो विद्वान् काव्य और कलाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार

है। अतः यदि कलाएँ मनुष्य के अंतःकरण की सच्ची प्रतिबिंब हैं तो अवश्य ही वे सत्य की ओर प्रवृत्त होंगी।

इस अन्तिम विचार के अनुसार कलाओं में लोकहित आदि के 'शिवत्व' की प्रतिष्ठा आप से ही आप हो जाती है। परन्तु कला-समीक्षकों को यह मूल तत्व विस्मरण न होना चाहिए कि प्रत्येक काव्य का अथवा कला-कृति का निर्माता व्यक्ति-विशेष होता है। फिर उसके शिवत्व का स्वरूप भी उसी के विकास के अनुकूल होगा। और उस शिवत्व को अपनी कलावस्तु में स्थापित करने के लिए उसे कला के उपर्युक्त सौन्दर्य और सत्य का भी विचार रखना पड़ता है। वह ऐसा नहीं कर सकता कि लोकहित का ध्यान करके उपदेशों का पहाड़ निर्माण करने लगे और कला के वास्तविक सौन्दर्य तथा उसके असाधारण प्रभाव का मूल तत्त्व ही बिसार दे।

अंग्रेजी साहित्य में जब से मेथ्यू आर्नल्ड का 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' सिद्धांत प्रचलित हुआ तब से कलाओं के लोकपक्ष पर विशेषरूप से आग्रह किया जाने लगा। आर्नल्ड के ही समकालीन कलाशास्त्री वाल्टर पेटर ने सौन्दर्य की झाँकी लेना, सुन्दर को असुन्दर से पृथक् करना और उसका रस प्राप्त करना यही कला-समीक्षा का क्षेत्र बतला कर मानो आर्नल्ड के लोकपक्ष की बराबरी पर अपना सौन्दर्य-पक्ष उपस्थित किया था। इन दोनों पक्षों में कोई तात्विक विरोध नहीं है, इसका प्रमाण तो इतने ही से लग जाता है कि आर्नल्ड और पेटर दोनों ही उत्कृष्ट समीक्षकों ने समान रीति से कवियों के काव्य की आलोचना की और वे प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। परन्तु यूरोप में ये दोनों ही पक्ष हठवादिता के केन्द्र भी बना लिए गये, जिसके कारण वास्तविक साहित्यालोचन अवरुद्ध हो गया। एक ओर 'कला के लिए कला' का प्रचार करनेवाले पंडितों ने शास्त्रार्थ आरम्भ किया और दूसरी ओर टाल्सटाय जैसे क्रांतिकारी व्यक्ति ने मानो साहित्य के क्षेत्र में भी क्रांति करने के आशय से धर्म-मिश्रित कलावाद की सृष्टि की। आज भी इंगलैंड में प्रोफ़ेसर क्विलर कोच, क्लाइव बेल जैसे विद्वान् साहित्य- शास्त्री 'कला के लिए कला' को सिद्ध कर रहे हैं और उनके विरोध में मिस्टर आई० ए० रिचर्डस् आदि अपने उपयोगितावादी, आचारवादी पक्ष को प्रकट करने में संलग्न हैं।

इन अनेकानेक विवादों से यदि कुछ तथ्य निकाला जा सकता है तो यही कि प्रत्येक कलाकार अपनी रुचि अथवा शक्ति के अनुसार सत् तथा असत् की धारणाएँ रखता है, जिन्हें वह अपनी कलाकृति में प्रकट करना चाहे तो प्रकट

कर सकता है। पर इसके लिए वह बाध्य नहीं है। प्रत्येक युग अपनी-अपनी विशेषताएँ रखता है। आधुनिक युग विचारों के प्रसार और जीवन-समस्याओं के स्पष्टीकरण का है, किन्तु सब युग ऐसे ही नहीं रहे। आधुनिक काल की समस्याएँ आगे चिरदिन तक बनी रहेंगी अथवा उनका अन्तिम समाधान उसी रूप में होगा जिस रूप में आज हुआ है, यह कोई नहीं कह सकता। आज यदि बर्नार्ड शा के नाटकों में विलायती जीवन की समस्याओं का निरूपण और समाधान किया जा रहा है तो काव्य का यही एक आशय नहीं माना जा सकता। फिर कला की दृष्टि से आधुनिक कला कुछ विशेष उन्नत भी नहीं मानी जा सकती। यह तो निश्चय है कि प्रत्येक कलाकृति के निर्माण का कुछ रहस्य होता है। पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है, और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की झलक उस कला में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है और काव्य के लिए यही मूल लोकहित है। काव्य तथा कलाओं के संख्याहीन रूपों को देखते हुए और उनके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़िबद्ध, नियमित लोकहित को हम काव्य या कला का अंग नहीं मान सकते। हाँ कलाओं का लोकपक्ष हमें स्वीकार है और हम यह मानते हैं कि संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार धार्मिक और उच्च प्रकृति के महापुरुष हो गए हैं।

व्यावहारिक विभाग

अध्ययन की सुविधा के लिए काव्य के कुछ मुख्य-मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं जो केवल व्यावहारिक विचार से स्वीकार किए जाने चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई एक विभाग किसी दूसरे की अपेक्षा मौलिक रूप से प्रधान है अथवा उसकी महत्ता अधिक है। कलात्मक सत्य को प्रकट करने के लिए काव्य की अनेक शैलियाँ बना ली गई हैं। अपने-अपने स्थान पर सब का समान महत्त्व है। जब मानवमन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीत रूप में होती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया सर्वत्र देखी गई है। जब उक्त उद्वेलन चित्त की किसी महान् तथा स्थायी प्रेरणा से उत्पन्न होता है अथवा बाह्य संसार की कोई उदात्त घटना इसका कारण होती है तब महाकाव्य का उद्गम होता है। जब कल्पना का पुट हलका होता है और मनुष्य वास्तविक जगत् के किसी व्यक्ति-विशेष या घटना-विशेष से आकर्षित होकर उसका वर्णन

करता है तो गद्य काव्य, इतिहास आदि ग्रन्थों का प्रणयन हो जाता है। जब जीवन के किसी लघु अंश को ही चमत्कृत रूप में चित्रित करने की उत्कण्ठा होती है तब आख्यायिका अथवा खंडकाव्य की सृष्टि की जाती है। इन विभागों के भी अनेकानेक उपविभाग कर लिए गए हैं। फिर मनुष्य के अंतःकरण की कौन-सी वृत्ति प्रधान बन कर काव्य के किस रूप में व्यक्त होती है यह हिसाब भी लगाया गया है। परन्तु हमको यह स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस प्रकार के मानसिक अथवा काव्य-संबन्धी विभाग तथा उनके पारस्परिक तारतम्य व्यावहारिक और काल्पनिक ही हैं। इन्हें केवल साधारण सुविधा तथा परिचयात्मक बोध करने के विचार से स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के श्रेणी-विभाग से कभी-कभी विशेष क्षति भी पहुँचती है, जिससे सचेत रहना सर्वथा हितकर होगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ को एक बार अपनी कविताओं को मानसिक वृत्तियों के आधार पर विभाजित करने की झक चढ़ी थी। उसने Fancy, Sentiment, Reflection, आदि मन के कई कठघरे बनाकर उसमें कविता-कोकिल को पालना आरम्भ किया था। पर लोगों के समझाने से उसका वह प्रयास दूर हो गया, नहीं तो बहुत संभव था कि वह इसके फेर में पड़कर अपनी नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा को खो बैठता।

ग्रीस के जगत्-प्रसिद्ध दार्शनिक और विचक्षण तत्ववेत्ता अरस्तू ने काव्य के कितने ही उपविभाग किये थे जो पश्चिम में अब तक व्यापक रीति से मान्य हो रहे हैं। हमारे देश में तो श्रेणी-विभाजन तथा वर्गीकरण की धुन-सी ही सवार रही है। यहाँ जिस सूक्ष्मता से विभाग किए गए हैं वे विशेष रूप से प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं। परन्तु यह कह देना आवश्यक होगा कि ये विभाग तात्त्विक आधार पर स्थित नहीं हैं। हमें यह भी प्रकट कर देना चाहिए कि इन विभागों की संख्या जितनी ही अधिक बढ़ाई जायगी उतने ही अधिक वे कृत्रिम होते जायँगे। क्योंकि सत्य तो यह है कि कला मात्र की ही भाँति काव्य की भी अभिव्यक्ति अखंड तथा अविभाज्य है।

गद्यात्मक काव्य और कविता-मय गद्य का नाम हम प्रायः सुना ही करते हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी गद्य में है; पर वह अत्यधिक कवित्वपूर्ण है। इसी प्रकार बहुत-सी रचनाएँ पद्य में की गई हैं जो गद्य में की जातीं तो अधिक चमत्कार उत्पन्न करतीं। बहुत-से रूपक अभिनय के लिए लिखे जाते हैं और बिना अभिनय के उनका आनन्द ही नहीं प्राप्त होता; पर बहुत-से ऐसे भी रूपक हैं जो पढ़ने-पढ़ाने के ही काम में आते हैं और जिनका अभिनय किया ही नहीं जा

सकता। इतिहास के कुछ ग्रन्थकार केवल घटनाओं का उल्लेख करके विश्राम लेते हैं; परन्तु कुछ उसे सरसतर काव्य का रूप प्रदान करने में सुख मानते हैं। काव्य का जगत् ही ऐसा है जहाँ कल्पना भी सत्य बन जाती है और सत्य कल्पना का रूप धारण कर लेता है। कौन कह सकता है कि मन के कितने तत्त्व जगत् के कितने तत्त्वों से किन-किन रूपों में संश्लिष्ट हो रहे हैं। प्रत्येक देश का दर्शन उसके काव्य को एक अनोखा ही रूप देने में समर्थ हुआ है। फिर उस रूप का उपविभाग किस तात्त्विक दृष्टि को मान्य होगा ? नारी की असंख्य मूर्तियाँ अगणित मूर्तिकारों ने अंकित की हैं, क्या वे सब प्रकार से एक दूसरे के अनुरूप हैं ? क्या सब की सामग्री अलग-अलग नहीं ? क्या सब की रुचि में भेद नहीं; संस्कार, विकास सब भिन्न नहीं ? जब हम किसी दूसरी भाषा की पुस्तक का अनुवाद भी अपनी भाषा में करते हैं तब भी उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल बना लेते हैं। कोई भी दो वस्तुएँ एक नहीं हो सकतीं। फिर काव्य-साहित्य के भेदोपभेद करके उसके सम्बन्ध में इदमित्थं कहने का साहस कौन कर

सतसई-संहार

(पद्मसिंह शर्मा)

विद्यावारिधि जी[1] भूमिका में लिखते हैं कि "टीका करते समय हमने कई सतसई सन्मुख रक्खीं।" परन्तु आपकी टीका पढ़कर मालूम होता है कि आपका यह वाक्य या तो उस परिपाटी को देखकर लिखा गया है, जो प्रायः आजकल के टीकाकार, संशोधक और ग्रंथ-सम्पादकों में पड़ गई है कि किसी पुस्तक की टीका के या संशोधन और सम्पादन के समय चाहे उन्होंने एक ही प्रति उस ग्रन्थ की देखी हो, पर अपनी बहुदर्शिता दिखलाने को "यह पुस्तक लिखते या सम्पादन करते समय हमने अनेक पुस्तकें सामने रक्खी थीं" इत्यादि लिख देते हैं, और यदि बहुत-सी पुस्तकें वास्तव में आपने सम्मुख रक्खीं तो वह सब रस्म अदा करने के तौर पर सिर्फ सामने रक्खी ही रहीं, उनसे लाभ उठाने या उन्हें समझने की आपने ज़रा भी कोशिश नहीं की, या समझ ही नहीं सके। अन्यथा सतसई की यह दुर्दशा न होती। यह पिछली बात (न समझ सकने की) ही कुछ ठीक प्रतीत होती है, क्योंकि सतसई की अन्य बहुत-सी टीकाएँ, चाहे आपने सामने न रक्खी हों पर इसमें तो ज़रा सन्देह नहीं कि 'लालचंद्रिका' आपने ज़रूर सामने रक्खी और उसीको देख देखकर अपनी टीका रची। इस बात का प्रमाण आपकी टीका में स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रत्येक दोहे की टीका में 'अलंकारों के नाम' और कहीं-कहीं जो 'दोहे' लिखे गए हैं, यह सब 'लालचंद्रिका' से ही लिया गया है। कहीं-कहीं पर उसकी इबारत तक ज्यों की त्यों नक़ल कर दी है। पर इस बात को आपने कहीं स्वीकार नहीं किया, जो अवश्य कर्त्तव्य था।

अन्य-वर्ण-परावृत्त्या बन्ध-चिह्नानिगूहनैः।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते। (बाणभट्ट)

---

१. 'विद्यावारिधि जी' से तात्पर्य विद्वद्वृन्द-शिरोमणि विद्यावारिधि श्रीमान् पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र से है जिन्होंने बिहारी सतसई की 'भावार्थ प्रकाशिका' टीका सं० १९६० में श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित की थी।

यद्यपि विद्यावारिधि जी ने प्रायः प्रत्येक दोहे की टीका में कुछ न कुछ कारस्तानी दिखलाई है, तथापि प्रबन्ध बढ़ जाने के भय से हम कुछ ही दोहों की टीका पर लिखेंगे। अच्छा, अब ज़रा टीका भी सुनिए—

मोर मुकुट की चंद्रिका (?) यों राजत नँदनंद।
मनु शशिशेखर को (?) अकस, किय शेखर शतचंद॥

"मोर पंख के मुकुट धारण किये, उस मोरपंख की चंद्राकार रेखा से 'नंद सुवन' इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानों (शशिशेखर) शिव जी के 'मन' (!) की अकस 'वैमनस्यता' (!) विचार कर कृष्ण ने अपने शिर पर सौ चंद्रमा धारण किये हैं।"...(पृ० ३)[1]

'नँदनंद' का अर्थ आपने 'नंदसुवन' किया है, इससे तो 'नँदनंद' ही बहुत सुगम है। यदि 'नंद को ढोटा' लिख देते तो आप की ब्रजभाषा-प्रवीणता और भी प्रकट हो जाती! 'सुवन' शब्द पुत्र के अर्थ में आजकल की हिन्दी में नहीं आता, ब्रजभाषा में भी यह शब्द प्रायः पद्य में ही आता है। इसी का नाम है 'मघवा मूल बिडौजा टीका'।

मूल में जो उत्प्रेक्षाव्यंजक 'मनु' शब्द आया है, उसे आपने दो जगह घसीटा है। एक जगह उसका अर्थ 'शिवजी का मन' कर डाला है, जो एकदम व्यर्थ है। 'शिवजी के मन की वैमनस्यता' (!) विचारने की क्या आवश्यकता थी? यदि उसे 'वैमनस्यता' कह सकें तो वह मुद्दत पहले कार्य्य में परिणत हो चुकी थी, जब कि उन्होंने काम को भस्म कर दिया था, 'वैमनस्यता' मन में थोड़े ही छिपी रह गई थी, और फिर शिवजी तो योगिराज हैं, वह किसी से मन में 'वैमनस्यता' क्यों रखते? आपने 'मन' 'विचार कर' मूल के किन शब्दों का अर्थ किया है? 'मनु', 'जनु', 'मनो' 'मानो' ये तो उत्प्रेक्षाव्यंजक शब्द हैं। यदि 'मनु' पद 'शशिशेखर को' के आगे धरा होता तब आपकी कल्पना या भ्रांति के लिए कुछ अवलम्ब हो भी सकता। मूल पाठ में भी आपने दो जगह कतर-ब्योंत की है। 'ससिसेखर की अकस' के स्थान में '.....को अकस' बना डाला। 'अकस' को यदि आप पुल्लिंग ही मानें तो भी '........के अकस' ऐसा होना चाहिए था '......को अकस' तो नितांत अशुद्ध है। 'चंद्रिकन' की

१. विद्यावारिधि जी के पाठ में चिन्तनीय पदों पर ' ' (?) इत्यादि चिह्न सर्वत्र समालोचन की ओर से समझे जायँ।

जगह 'चंद्रिका' कर दिया। दोनों में जो भेद है उसे सहृदय काव्यरसज्ञ आसानी से समझ सकते हैं। आपके ये पाठान्तर सब प्राचीन टीकाओं के विरुद्ध हैं। आप टीका करने बैठे हैं या मूल को भी बिगाड़ने? बाज़ आये ऐसी टीका से।

× × ×

मकराकृत गोपाल के, कुंडल सोहत कान।
धस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढ़ी लसत निशान॥

"मकर के आकार के कुंडल श्रीकृष्ण के कान में इस प्रकार शोभित होते हैं, मानों इनके हृदयरूपी भवन में काम (स्मर) प्रवेश कर गया है "निशान रूपी द्वारपाल" बाहर ड्योढ़ी पर शोभा देते हैं।"......(पृ० ३)

देखा आपने! कैसा 'निशानरूपी द्वारपाल' ड्योढ़ी पर बिठलाया है! धन्य महात्मन्! इस अपूर्व अर्थ को सुनकर बिहारीलाल की आत्मा भी स्वर्ग में फड़क उठी होगी! जो ख़ास बात इस दोहे में थी उसी को आपने धूल में मिला दिया! और 'निसान' का 'निशान' बनाकर ब्रजभाषा की शान को बट्टा लगा दिया! 'शीन' के शड़ाकों का आपको बहुत शौक़ है।

मकर की आकृति-वाले कुण्डलों पर उत्प्रेक्षा है कि मानों स्मरदेव हृदय रूप अपने मन्दिर में प्रविष्ट हो गये हैं और अपनी ध्वजा 'निशान' बाहर—हृदय-मन्दिर की ड्योढ़ी पर—छोड़ गये हैं। काम का नाम 'मनसिज' और 'मकरध्वज' भी है। काम के ये दो नाम, और कुण्डलों की 'मकराकृति' यही इस अपूर्व उत्प्रेक्षा की जड़ हैं।

करे चाहसों चुटकिके, खरे उड़ौहे[1] मैन।
लाज नवाये तरफरत, करत खूँद सी नैन॥

"मैंने (?) अर्थात् कामदेव ने चाह से चुटका कर उड़ने वा उठते हुये से खड़े किये, लज्जा के नवाये पर खुरीसी करते हुये नेत्र तड़फड़ाते हैं। इसमें नेत्रों को घोड़े के समान निरूपित किया है उन्हें "कामरूपी चाबुक की चाह से चाबुक मार उठो है" परन्तु लाज झुका देती है चुटकी के चाबुक का चटाका करके। खुदी खूँदती हुई चाल, अथवा पैर में नख बढ़ जाने की चाल......।" (पृ० १५)

सतसई के अन्य टीकाकारों को तो क्या स्वयं कवि बिहारीलाल को भी अपने इस दोहे के यह 'अति ललित मधुर, मुग्ध अर्थ' न सूझे होंगे! उन्होंने

१, 'उड़ौहे' की जगह 'उड़ौ है' चाहिए।

भला यह पैर में नख (?) (घोड़े के खुर या शफ़ को भाषा में 'सुम' कहते हैं या नख ?) चढ़ जाने की यह नई चाल काहे को देखी होगी ? "मैंने अर्थात् कामदेव ने" बहुत ठीक, तो क्या इस दोहे के 'देवता' आपही हैं ? "चाह से चुटकाकर" का क्या अर्थ ? "उड़ते या उठते हुये से खड़े किये" का क्या मतलब ? क्या कोई पदार्थ बैठता या लेटता हुआ-सा भी खड़ा किया जाया करता है ? "कामरूपी चाबुक की चाह से चाबुक मार उठो है" का कुछ अर्थ भी है ? और "चुटकी के चाबुक का चटाका" कैसा होता है ? यह आप टीका कर रहे हैं, या स्वप्न की दशा में पड़े बड़बड़ा रहे हैं । इतने पर भी इस प्रलाप का नाम रक्खा है 'अति ललित मधुर मुख टीका !'

हा ब्रजभाषे ! क्या तू अपनी ऐसी दुर्दशा देखने को ही अब तक बची हुई थी ? तेरे वह सुदिन कहाँ गये जब सूरदास, बिहारीलाल, मतिराम और हरिश्चन्द्र आदि जैसे सुकवि अपनी अपनी सुन्दर और नवीन रचनाओं से तुझे अलंकृत करते थे ! एक आज का समय है कि नवीन रचनाओं से तुझे भूषित करना तो दूर रहा तेरे पूर्व कवियों द्वारा प्रदत्त आभूषण भी किस निर्दयता से तोड़-मरोड़ कर धूल में मिलाये जा रहे हैं । तेरे जगत्प्रसिद्ध माधुर्य्य में इन्द्रायन और नीम का तेल मिलाया जा रहा है !

यदि यह दुर्दशा किसी ऐसे वैसे मामूली आदमी की ओर से की जाती तो अधिक अफ़सोस की बात न होती परन्तु जब हम देखते हैं कि यह कृपा 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' 'व्याख्यानवाचस्पति' जैसी प्रतिष्ठित उपाधियों से 'सर्वाङ्गविभूषित' व्यक्ति की तरफ़ से की जा रही है तो और भी दुःख होता है । यह हमारे लिए कैसे खेद और लज्जा की बात है कि भारत से हजारों मील दूर । सात समुद्र पार—रहने वाले डाक्टर ग्रियर्सन जैसे महानुभाव तो ब्रजभाषा के माधुर्य और सतसई के अपूर्व गुणों पर मोहित होकर, उसमें प्रवीणता प्राप्त करके 'सतसई' के सम्पादन में उसके शुद्ध संस्करण के लिए घोर परिश्रम करते हुए अपने नेत्रों की ज्योति तक क्षीण कर बैठे (जैसा कि उन्होंने स्वयं और 'बिहारी विहार' की भूमिका में स्वर्गीय व्यासजी ने लिखा है) और एक हम हैं कि अपने देश की मातृभाषाओं को अलंकृत और परिष्कृत करना तो दूर रहा उलटा उनकी मिट्टी पलीद कर रहे हैं ! हमारी अपनी भाषाएँ ही हमारे लिए चीनी और हिब्रू भाषा बन रही हैं । अफ़सोस ! हमारी दशा पर किसी उर्दू कवि की यह उक्ति कैसी चरितार्थ हो रही है—

"एक हम हैं कि लिया अपनी भी सूरत को बिगाड़।
एक वो हैं जिन्हें तसवीर बना आती है॥"

पाकठवृन्द ! ऊपर के दोहे का साफ़ और सीधा मतलब यह है कि—

काम ने (कामरूपी चाबुक-सवार ने) प्रेम की चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये और लज्जा ने (लज्जा रूपी बाग ने) नीचे को झुका दिये, इस प्रकार तड़फड़ाते हुए, नेत्र रूपी घोड़े, मानो खूँद-सी कर रहे हैं।

चुटकिकै—कोड़ा मारकर, 'खरे'—बहुत या खूब, खूँद करना—लघुद्रुत गति से ज़मीन को काटते हुए चलना, जहाँ से पैर उठाया है फिर वहीं रखना, इत्यादि खूँद करने का अर्थ है, जिसे इधर की ग्रामीण भाषा में "खौरूखोदना" भी कहते हैं। जब बछेरे को 'औघी" में फेरते वक्त चाबुक सवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है तो वह ऊपर को उठ जाता है और भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहने के कारण भाग नहीं सकता, झुककर वहीं आ रहता है। घोड़े की इस दशा की उपमा कवि ने 'चाहका चाबुक' खाये हुए और 'लाज' की बाग से खिंचे हुए, नेत्रों से दी है।

टुनिहाई सब टोल में रही जु सौति कहाय।
सुतौ ऐंच प्रिय आप त्यौं, करौ अदोषिल आय॥

"जो टोना करने वाली सब सखियों के समूह में तेरी सौति (?) बाज (?) रही थी, सौ तैंने नायक को बश कर वह सौत बेछूत कर दी; लेखालंकार (?), जो सौतों का वशीभूत करना कर्म दोषमय था टोना के पद से यह गुण हुआ, जैसे टुट कहेरी (१) भूत की छूत दूर करै तैसे इसमें सौत से दूर कर निज वश किया" (पृ० ४६)

इसमें कुछ पदों को छोड़कर और दो एक पद बदलकर लेखालंकार (?) से ऊपर की इबारत, 'लालचन्द्रिका' से नक़ल की गयी है। ख़ैर, और तो पीछे देखा जायगा, पहले एक बात पूछ लें। क्यों विद्यावारिधि जी ! यह "लेखालंकार" कौन-से साहित्य में लिखा है ? यदि आप लल्लूलाल जी का नाम लेकर 'लालचन्द्रिका' के हवाले से छूटना चाहें तो भी नहीं बनता। लल्लूलाल जी की ऐसी अशुद्धि क्षन्तव्य हो सकती है क्योंकि वह संस्कृत के पण्डित नहीं थे, जैसा कि व्यास जी ने 'बिहारी विहार" की भूमिका में सिद्ध किया है। परन्तु आपके श्रीनाम के साथ तो 'विद्वद्वृन्द-शिरोमणि' 'विद्यावारिधि' जैसी उपाधियाँ हैं, जो महत्त्व में 'महामहोपाध्याय' से भी बढ़कर हैं। फिर आप जो बार-बार 'काकोक्ति' (१) 'लेखालंकार' 'प्रवत्सत पतिका' इत्यादि महाभ्रष्ट पद लिख रहे हैं,

इसका क्या कारण समझा जाय ? क्या कविता का ठीक अर्थ कर सकना और शब्दों को शुद्ध लिखना, उन विद्याओं के अंतर्गत नहीं है, जिनके कि आप 'वारिधि' हैं ? और महाराज की जय रहे, आपने तो भूमिका में प्रतिज्ञा की थी कि "भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो, इस पर विशेष दृष्टि रक्खी गई है" फिर यह क्या बात है कि इस प्रतिज्ञा का उल्लंघन आप पद पद पर कर रहे हैं ! आप दृष्टि नहीं रख सके, वह प्रायः झपक गयी है। ठीक है, आख़िर मनुष्य 'अनिमिष' तो नहीं है, पलक लग ही जाती है। आपके यह परिष्कार काठिन्य में "रसगङ्गाधर" की पंक्तियों से कुछ कम नहीं हैं। कहीं यह 'ग्रन्थ-ग्रन्थियाँ' श्रीहर्ष की तरह आपने जानबूझ कर ही तो पाठकों को छकाने के लिए नहीं लगा दी हैं ? यदि यही बात है तो श्रीहर्ष के समान उसकी सूचना भी आपको दे देनी चाहिए थी। अस्तु, अब एक काम कीजिए, अपनी टीका में आई हुई ऐसी ऐसी कठिन फक्किकाओं पर एक टीका टिप्पनी स्वयं ही लिख छोड़िये, अन्यथा सूरदास के कूट पदों की तरह इनका अर्थ समझने में लोगों को बड़ी कठिनाई होगी। फिर वह किसके पास पूछने जायँगे ? इसलिए इस मुश्किल को स्वयं ही हल करते जाइये ! टीका तो न जानें आप कब करेंगे, हमें अपनी इन ऊपर की पंक्तियों का ज़रा अर्थ ही समझा दीजिये। हाँ महाराज ! "सौतों का वशीभूत करना कर्म दोपमय था" इसका क्या मतलब है ? यह कौनसी विद्या में लिखा है कि 'वशीभूत करना' कर्म दोपमय है ? जब कि गुरु का शिष्य को, स्वामी का सेवक को, राजा का प्रजा को, प्रेमपात्र का अपने प्रेमी को 'वशीभूत' या अपने काबू में करना कोई दोप नहीं, जुर्म नहीं, किसी धर्मशास्त्र या कानून में इसके लिए दण्डविधान नहीं लिखा, (यदि हो तो पता दीजिये, आप 'विद्यावारिधि' हैं) फिर बेचारी 'सौतों' ने आपका क्या बिगाड़ा है जो उनके वशीभूत कर्म को बिना कारण बतलाये आप 'दोपमय' बता रहे हैं ! आप जैसे धार्मिकोपदेष्टा को ऐसा पक्षपात शोभा नहीं देता। कहीं आपने अपनी यह टीका एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल) में तो नहीं भेज दी ? वहाँ यदि वह कहीं वायसराय की लेजिसलेटिव कौंसिल के किसी मेम्बर की नजर पड़ गई तो ऐसा न हो कि आपके उद्भावित इस नये दोषमय कर्म के मुताल्लिक़ ताजीरात हिन्द में एक नई दफा बढ़ाने के लिए (कौन्सिलमें) प्रस्ताव होने लगें ! इससे अगली बात और भी विचित्र है "टोना के पद से वह गुण हुआ"—ग़ज़ब हुआ ! महाराज ! ग़ज़ब, यह क्या बात हो गयी ! जो कर्म अभी अभी 'दोपमय' था, वह सिर्फ 'टोना के पद से,' खालिस गुण (गुणमय भी नहीं ?) कैसे हो गया ? इस रसायनविद्या—इस कैमिस्ट्री – को आज

ल के मन्दमति मनुष्य आपके अनल्प अनुग्रह बिना नहीं समझ सकेंगे ! खिये न, कैसी अद्भुत बात हुई ! टोना के पद मात्र से ही वह—दोषमय र्म—'गुण' हो गया ! टोना करने की भी ज़रूरत न पड़ी ! धन्य हो, आपका जादू रक़म क़लम भी ऐसे ऐसे करश्मे दिखलाता है कि देखनेवाले ंग रह जायँ !

"जैसे टुट कहेरी (१) भूत की छूत दूर करे तैसे इसने सौत से दूर कर नेज वश किया।"

'टुट कहेरी' कैसा फ़सीह महावरा है ! खास 'दीन्दारपुरी' है। जी हाँ, रमाइये"......भूत की छूत दूर करे' भूत को नहीं, किन्तु उसकी छूत को र करे। क्या मतलब, जब किसी को भूत चढ़कर उतर जाय, पीछे से जो सकी छूत लगी रह जाय उसे दूर करे, इत्यर्थः; अथवा यों समझिये, जिस कार चाण्डालादि किसी अस्पृश्य पदार्थ के स्पर्श हो जाने पर स्नानादि द्वारा सकी छूत दूर की जाती है, ठीक उसी प्रकार से "तैसे ! इसने" इसने किसने ? ाफ़-साफ़ कहिये न ? "सौत से दूर कर ?" किसे दूर कर ? साक्षात् किसी पदार्थ ो या उसकी छूत मात्र को ? "निजवश किया" आपने भी पति (प्रतीयमान) ो भूत की उपमा देकर बड़ा भारी काम किया। 'उपमालंकार' को कालिदास और बिहारीलाल से छीन कर 'निजवश किया' ! थोड़ी बात नहीं ! ठीक ही हुआ, बेहारीलाल जीने 'चाह' को 'चुरैल' (२०६ दो०) ठहराया है, आपने 'चाहने ाले' को भूत बना दिया ! इसी प्रकार कल कोई दूसरे टीकाकार उठेंगे वह नायक को प्रेत' पिशाच राक्षस इत्यादि की उपमा देंगे, फिर यदि किसी ने साहित्य परिचय' लिखा तो वह नायक के शठ, दक्षिण, आदि भेदों के साथ ूत प्रेतादिको भी शामिल कर देगा ! क्यों न हो, तरक्क़ी का ज़माना है !

प्रिय पाठकगण ! इस वीभत्स व्यापार—भूत प्रेत और छूत छात—आदि का बिहारी के उक्त दोहे में गंध भी तो नहीं, यह सब कुछ टीकाकार के देमाग की उपज है ? दोहे का भाव यह है—

नवोढ़ा नायिका के रूपादि गुणों की प्रशंसा करती हुई सखी उससे कहती है कि तेरे आने से पहले नायक जिस तेरी सौत—नायिका के वश में था वह 'टुनिहाई' टोना—करने वाली—प्रसिद्ध थी कि इसने नायक पर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वश में कर रक्खा है, सो तैने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणों से नायक को अपनी ओर खींच कर अपनी उस सौत को दोषरहित कर देया, अर्थात् उसे इस इलज़ाम से बरी कर दिया कि वह टोना करनेवाली है।

क्योंकि यदि वह जादूगरनी होती तो नायक उससे छूट कर तेरे वश में न हो सकता, इससे जाना गया कि जादू से नहीं, किन्तु सौन्दर्यादि गुणों से ही उसने नायक को अपने अधीन कर रक्खा था, अब उससे अधिक रूपवती होने के कारण नायक को तैंने अपनी ओर खींच लिया। इसलिए—

"लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्"

इस साहित्य लक्षण के अनुसार यहाँ "लेशालङ्कार" है, (जिसे विद्यावारिधि जी ने "लेखालङ्कार" लिखा है) अर्थात् जहाँ गुण के स्थान में दोष और दोष के स्थान में गुण की कल्पना हो जाय, वहाँ लेशालंकार होता है। जैसे यहाँ टोना करने रूप दोष के स्थान में रूपवती होने रूप गुण की कल्पना की गयी। नायक का वश में होना टोना के प्रभाव से नहीं था, किन्तु सौन्दर्यादि गुणों के कारण था, यह भाव।

छप्यो[1] नेह-कागज हिये भई लखाइ न टांक।
विरह तचे उघर्‌यो सु अब सेहुँड़ को सो आँक॥

"जो कागज-रूपी-प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी और थोड़ी भी प्रसिद्ध न हुई सो अब थूहर के दूध के लिखे अक्षर-सी विरह की आग से सिक कर खुली।

पूर्णोपमा थूहर के दूध के लिखे अक्षर आग पर सेकने से चमकते हैं" (पृ० ४७) बस रहने भी दो, क्यों इस काव्य की दुर्दशा पर कमर कसी है! यह काम आपके बस का नहीं है, जो काम आदमी से न हो सके उसमें हाथ ही क्यों डाले! खट्टे अंगूर और टेढ़ी खीर से दूर ही रहना अच्छा है! आपको यह सम्मति किस भले आदमी ने दी थी कि आप सतसई को हाथ लगावें? आपकी इस टीका से तो यह ग़रीब वैसे ही अच्छी थी, यह टीका तो इसके लिए स्याही का टीका हो गया! जिसकी बातें ही आपकी समझ में नहीं आतीं उसके दुभाषिया—मुतरज्जिम—आप क्यों बन गये?

"जो कागज-रूपी प्रीति निर्मल मन में छिपी थी" यह देखिये कैसा विलक्षण भाष्य है! क्यों महाराज! सेहुँड़ के दूध से लिखने से 'कागज' छिप जाता है? वह ज़रा भी नहीं दीखता! और 'अक्षर' दीखते रहते होंगे? तभी

---

[1] **छप्यो के स्थान में "छतो" पाठ चाहिए। यही लाल-चन्द्रिका, हरिप्रकाश, बिहारी-बिहार तथा कृष्णदत्त की टीका में है। 'छप्यो' तो यहाँ नितान्त अयुक्त है, क्योंकि 'नेह' का छिपा रहना तो 'भई लखाइ न टांक' इससे ही सिद्ध है, फिर 'छप्यो' कहने की क्या ज़रूरत है? "नेह छतो" का अर्थ है प्रीति थ।**

तो श्रीमान् ने 'छिपी हुई प्रीति' को 'कागज' ठहराया है ! इस पर तुर्रा यह है कि इस प्रकार रूपक का रूप बिगाड़ कर और उपमा का उपमर्द करके आप लिखते हैं—"पूर्णोपमा"—धन्य आपकी पूर्णोपमा ! किसी को अलंकारशास्त्र पढ़ना हो तो आप से पढ़े । इस दशा में इसे 'पूर्णोपमा' कहना ऐसा ही है जैसे कोई किसी 'मृगनयनी' की एक आँख फोड़ कर उसे चिढ़ाने के लिए 'मृगाक्षी' कहे । इस दोहे का स्पष्ट अर्थ यह है—

हृदयरूप कागज पर प्रीति (अङ्कित) थी जो (संयोग दशा में) जरा भी (किसी पर) प्रसिद्ध न हुई थी, सो अब विरह की आँच से सिकने पर सेंहुड़ के दूध से लिखे हुए अक्षर की तरह प्रकट हो गई, चमकने लगी, सब पर खुल गई । दोहे में "कागद-हिये" यह 'समस्त रूपक' है—

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।
यथा बाहुलता पाणि-पद्मं चरण-पल्लवः" ॥ (काव्यादर्श)

अथवा—"उपमान रु उपमेय में भेद परै न लखाय ।
तासों रूपक कहत हैं सकल सुकवि समुदाय ।"

अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान में अभेद प्रतीति हो ऐसी उपमा को ही रूपक कहते हैं—जैसे "बाहुलता" "चरण पल्लव" इत्यादि, या जैसे "कागद-हिये," "लाज-लगाम" "दीपक-देह" इत्यादि में ।

विद्यावारिधि जी ने समझा होगा "कागद-हिये" ये दो पृथक् पद हैं, इनका आपस में कुछ सम्बन्ध तो है नहीं, बस झट 'कागद' का कान पकड़ के 'नेह' के साथ नत्थी कर दिया ! हिया बेचारा हाय हाय करता और पुकारता ही रह गया (मैं कहता रह गया ज़ालिम ! मेरा दिल है मेरा दिल है !) कि दयानिधे ! यह आप क्या करते हैं ! मेरे इस चिरसंगी सखा (कागद) को कहाँ लिए जाते हैं ! बिहारीलाल जी ने तो इसे मेरे साथ अभेदरूप से रखा है, यदि मेरा विश्वास न हो तो प्राचीन टीकाकारों से पूछ देखिये । हम दोनों एक हैं, अभिन्नहृदय हैं, हममें भेद न डालिये, हमें पृथक् न कीजिये; भगवन् ! दया कीजिये, इससे दूर होते मैं फटा जाता हूँ ।

उधर 'नेह' ने भी इस विभाग पर नाराज़गी ज़ाहिर करके कहा कि रहने दीजिये, मुझे 'कागद' नहीं चाहिए, मैं 'सेंहुड़' के आंक की समता से ही खुश हूँ । कवि-विधाता ने मुझे उसके सदृश बनाया है । और अब तक जिस (कागद) के यहाँ मैं अज्ञातवास की दशा में छिपा रहा, अब प्रकट होते समय

उसी की बराबरी का दावा करते हुए मुझे लज्जा आती है सो मैं "कागज-रूपी-प्रीति" कहलाना नहीं चाहता, माफ़ कीजिए।

परन्तु वंग-विच्छेद करने वाले 'माई लार्ड' कर्जन के समान हमारे 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' विद्यावारिधि ने उनको इस करुणोक्ति पर ध्यान न देकर कहा कि —"चुप रहो, हम नहीं जानते, बिहारीलाल ने तुम्हें कहीं और किसी के साथ रक्खा हो, न हमें किसी से कुछ पूछने की ज़रूरत है, हम स्वयं 'विद्यावारिधि' हैं। पृथक् होने में भले ही तुम्हारा अर्थनाश क्या सर्वनाश हो जाय, कुछ परवा नहीं, हमारी आज्ञा तुम्हें माननी ही पड़ेगी"। बहुत कहने सुनने पर 'हृदय' का दिल रखने के तौर पर उससे कहा कि 'कागद' के बदले हमने तुम्हें 'निर्मलता' प्रदान की। नेह का अपील डिसमिस। क्योंकि उससे कुछ छीना नहीं गया, बल्कि और कागज का करेन्सी नोट दिया गया है! इस प्रकार इस 'कागज केस का ख़ात्मा' हुआ। श्री पंडित परमानंद कवि ने "शृङ्गार सप्तशती" में इस दोहे का दोहा छन्द में ही कैसा अच्छा अनुवाद किया है, सहृदय संस्कृतज्ञ पाठकों के विनोदार्थ उद्धृत है—

'प्रेम हृदयपत्रानुगतमलक्षितं यदुवास।
तद्वज्राक्षरमिव[1] तनौ विरहाग्निना बभास॥'

उठि ठक ठक एतो कहा पावस के अनुसार (?)
जान परेगी देखि यौं दामिनि घन अँधियार॥१२६॥

"उठ वर्षा के समय नायक के पास चलने में इतनी अडचड क्यों है, वहाँ ऐसी विदित होगी कि मानो बिजली बादल को लिए अंधकार में है। भ्रान्तालंकार।" (पृ० ५६)

न मालूम कौन सी अद्भुत पोथी आपके हाथ लग गई है जिसमें इस प्रकार के विचित्र पाठान्तर भरे पड़े हैं! जिस प्रकार टीका करने में आप मनमानी करते हैं, किसी टीकाकार की नहीं सुनते, इसी प्रकार मूल कविता में भी स्वयं 'इसलाह' कर देते हैं। और न हुआ तो यहाँ 'अभिसार' का 'अनुसार' (?) ही कर दिया! और उसका अर्थ किया है 'समय'! न जाने किस कोश के अनुसार 'अनुसार' का अर्थ 'समय' किया गया है! 'भ्रान्ति' या 'भ्रान्तिमान्' की जगह आप लिखते हैं 'भ्रांतालंकार' (?) क्यों न हो, यह भी तो 'लेखालंकार' का लंगोटिया यार और 'काकोक्ति' का काका है। अस्तु।

---

[1] सीहुण्डो वज्रः कुस्नु स्त्री स्नुही गुडेत्यमरः

'नायक के पास चलने में' इतना अर्थ अब किन पदों का है? क्योंकि जिस 'अभिसार' का यह अर्थ था, उसका तो आपने 'अनुसार' बना डाला !

'वहाँ ऐसी विदित होगी' वहाँ कहाँ? नायक के पास न? बहुत खूब, और कौन विदित होगी? कर्त्ता गायब! "......कि मानो बिजली बादल को लिए अन्धकार में हैं।" इसके आगे हमारे 'सम्भ्रान्त' अलंकारशास्त्री जी लिखते हैं 'भ्रान्तालंकार' (!) खैर 'भ्रान्ति' न सही 'भ्रान्ता' (!) ही सही 'काकोक्ति' वाले के लिए तो यह कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु 'मानो'[1] लगने से तो खासी सोलह आना 'उत्प्रेक्षा' हो गई! 'भ्रान्ति' कहाँ रही? किसी साहित्य ग्रन्थ में 'भ्रान्ति' का लक्षण देखकर अपने उपर्युक्त वाक्य में ज़रा लक्षण-समन्वय तो कीजिये कि इस दशा में यह 'उत्प्रेक्षा' है या 'भ्रान्ति' है। खैर जी, अलंकार पड़ें भाड़ में, यहाँ तो बेचारी कविता के कपड़े ही फाड़े जा रहे हैं। उसका शरीर ही अनर्थ-वज्र-प्रहारों से क्षत-विक्षत किया जा रहा है। भला जिसका जिस्म ही जख्मों से चकनाचूर हो रहा हो, अलंकार क्या उसकी ख़ाक शोभा बढ़ायेंगे। उसे तो वे और भार प्रतीत होंगे, घावों में चुभेंगे। ग़रीब की जान बच जाय यही ग़नीमत है !!

जी हाँ फ़र्माइए, कैसी विदित होगी—"मानो बिजली बादल को लिए अंधकार में है" यहाँ 'बिजली' तो नायिका को समझें, और 'बादल' नायक को, तथा 'अंधकार' नायक के मकान या संकेत स्थान को! मालूम होता है नायक कहीं तहख़ाने में या काजल की कोठरी में काला बादल बना छिपा बैठा है! तभी तो वहाँ अंधकार की प्रतीति या भ्रांति हो सकेगी। अब तक तो यही सुनते थे कि बादल में बिजली रहती है और काले बादल में वह खूब चमकती है, परन्तु अब आपसे मालूम हुआ कि बादल में रहना और चमकना क्या, वह तो बादल को बग़ल में दबा कर अंधकार में जा छिपती है!

अच्छा, अब लल्लूलाल जी की ज़बानी उनकी भाषा में इसका अर्थ सुन लीजिए!

"सखी का वचन नायिका से—उठ बखेड़ा इतना क्या है बरखा के

---

[1] 'मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥' (दण्डी)

इस लक्षण के अनुसार संस्कृत के 'मन्ये, शंके' इत्यादि शब्दों की तरह, हिन्दी में मानो, जानो इत्यादि शब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जक हैं।

चलने में, नायक के पास, जानी जायगी दिखाई देने से ऐसे कि बिजली बादल काले के अंधेरे में है..........."

मतलब यह कि मार्ग में कोई देख न ले इसलिए कृष्णाभिसारिका का वेष बनाने इत्यादि बखेड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि किसी ने मार्ग में देख भी लिया तो वह पहचान न सकेगा कि यह नायिका जा रही है, किन्तु उसे भ्रांति होगी कि वर्षा के काले बादल में यह बिजली चमक रही है।

पाठकगण ! इस आशय की गंध भी वारिधि जी की टीका में है ?

चलत घरै (?) घर घर तउ, घरी न घर ठहराति।
समुझि उही घरको चलै, भूलि उही घर जाति॥२४६॥

"अपने घरकी कोठरी कोठरी में घूमती है, तौ भी घरमें घड़ी भर नहीं ठहरती जानकर भी उसी घर को जाती है, भूल कर भी उसी घर को जाती है......"(पृ० ८५)

यदि कोठरियों की संख्या और उनकी लम्बाई चौड़ाई भी लिख देते तो और अच्छा होता ! और यह भी लिखने से रह गया कि कोठरी कोठरी में वह क्या ढूँढ़ने के लिए घूमती है ! और जल्दी जल्दी घूमती है या आहिस्ता आहिस्ता ! क्या उसके घर में कोई बड़ा बरांडा, दालान या कमरा घूमने के लिए नहीं था ? और यह और भी विचित्र बात है कि अपने ही घर की कोठरी कोठरी में घूमती है, तौ भी घर में घड़ी भर भी नहीं ठहरती ! जबकि वह घर में घड़ी भर नहीं ठहरती तो "कोठरी कोठरी में" किस वक्त घूमती है ? आख़िर घूमने में कुछ देर तो लगती ही होगी। मालूम होता है, घर में दो एक छोटी छोटी कोठरियाँ होंगी, उनकी परिक्रमा जल्द जल्द दो चार मिनट में करके वह चल देती है। क्यों महाराज ! यही बात है या कुछ और ?

पाठकगण ! इन तिलस्मी 'कोठरियों' का दोहे में कहीं पता भी नहीं; न मालूम विद्यावारिधि जी ने यह बेबुनियाद इमारत कहाँ से खड़ी कर दी ! तभी तो वह ठहर न सकी, धम से नीचे गिर गयी ! 'घैर' इस निन्दार्थक शब्द का 'घरै' बना दिया ! कुछ तो चाहिए था !

दोहे का अर्थ है कि—नायिका यह जान कर भी कि घर घर इसकी चर्चा और निंदा होती है, उसी के—नायक के—घर को जाती है, और जब प्रेमोन्माद में लोकचर्चा और निन्दा को भूल जाती है, तब भी उसी के घर जाती है। सब कुछ भूलकर भी उसका घर नहीं भूलती ! "दीवाना बकार ख्वेश हुशियार"।

द्वैज सुधादीधितिकला, यह लखि दीठि लगाय।
मनो अकाश अगरितया, एकौ कली लखाय ॥२४०॥

"दोयज के चन्द्रमा की अमृत-भरी कला को जान दृष्टि लगा कर देख, से आकाशरूपी अगस्त के वृक्ष में एक ही कली दिखाई दे रही है (दीधति न्द्रमा) मुग्धा हाव, पर्यायोक्ति और उत्प्रेक्षालंकार।" (पृ० ८६)

शिव! शिव!! यह देखिए "सुधादीधिति" चन्द्रमा के दो टूक कर ये! हा दैव! बिहारी के काव्य-चन्द्र को यह कैसा अकाल ग्रहण लग गया!

आज से कोई चौदह सौ साल पहले अरब में एक बार हज़रत मुहम्मद ाहब ने चाँद के दो टुकड़े किये थे, वह घटना अब तक उनके "मोअज्जिज़ा" 'शक़्क़ुलक़मर' के नाम से प्रसिद्ध है। या अब इतने दिनों पीछे भारत- र्ष में विद्यावारिधि जी ने यह "शक़्क़ुल सुधादीधिति" (?) का करश्मा खलाया है!

चन्द्रार्थक "सुधादीधिति" इस समस्तपद में से 'सुधा' निकाल कर एक ोर फेंक दी, और दीधिति को एक तरफ़ डाल दिया! और नया ाशा देखिए 'दीधिति' का अर्थ करते हैं आप "चन्द्रमा"!!! जय विद्या- ारिधे! धन्य विद्वद्वृन्दशिरोमणे! यह अपूर्व अर्थ करके तो आपने अपनी स्कृतज्ञता की पराकाष्ठा और विद्यावारिधिता की थाह दिखा दी!

सच है—"**तुलसी आह गरीब की कभी न खाली जाय**"—आपने तो ाहारी की कविता को ख़राब किया ही है, पर याद रखिये आपकी यह टीका ही ापकी "विद्यावारिधिता" के लिए अगस्त्य मुनि हो गयी! आपका यह उद्योग वेषमालंकार' का लम्बायमान उदाहरण बन गया! भलेमानुषो! यदि कविता का ार्थ समझ में नहीं आता तो यह भी कोई बड़ी बात है कि "दीधिति" किसे हते हैं! 'अमरकोश' पढ़नेवाला विद्यार्थी भी जानता है कि 'दीधिति' चन्द्रमा ो नहीं, 'किरण' को कहते हैं, (किरण चाहे चन्द्रमा की हो या सूर्य की)। चन्द्रमा ा नाम 'शीतदीधिति' है, 'सुधादीधिति' है। इसी प्रकार 'सूर्य' का नाम 'तिग्म- ोधिति' है। किसी कोश या काव्य में केवल 'दीधिति' चन्द्रमा का नाम नहीं प्राया। आप चाहे किसी भी संस्कृत के विद्वान् से पूछ देखिए। न मालूम प्रापको यह धोखा किसने दिया! कहीं लल्लूलाल जी के बहकाने में तो नहीं प्रागए! कुछ लक्षण तो ऐसे ही प्रतीत होते हैं। अच्छा तो ज़रा ठहरिए, 'लालचन्द्रिका" देख लें—

"**मुग्धाहाव वर्णन......'सखी का बचन नायका से'। दीधितिचन्द्रमा।**

दूज के चन्द्रमा की कला को अमृत जान तू यह देख दृष्टि लगाकर मानो आकाशरूपी अगस्त के वृक्ष में एक ही कली दिखाई देती है, प्रतीप, पर्यायोक्ति, और उत्प्रेक्षालंकार………… …"

यह जो कहिए, आप "लालचंद्रिका" की नक़ल किये बैठे हैं! लल्लूलाल जी ने प्रारम्भ में "दीधिति चन्द्रमा" लिखा है, आपने उसे अन्त में स्थापित करके, उसके इधर उधर ब्रैकेट का 'परिवेष' बना दिया है, कुछ तो भिन्नता और विशेषता चाहिए थी! टुकड़े करके भी सन्तोष न हुआ! बेचारे के ऊपर ब्रैकेट का परिवेष (घेरा) भी लगा दिया!

"सुधादीधिति" में के सुधा का अर्थ लल्लूलालजी ने सिर्फ 'अमृत' करके उसे 'कला' का विशेषण बनाया। आपने उसे 'अमृतभरी' कर दिया। लल्लूलालजी के इस वाक्य में—'कला को अमृत जान'— 'जान' यह विधि या समापिका क्रिया जान पड़ती है, परन्तु आपने उसे 'कला को' के आगे रख कर सम्बोधन का सा रूप दे दिया, अर्थात् "ऐ जान! (बाज़ारी महावरा!) दृष्टि लगा कर देख।" इस दशा में ऐसा अर्थ करने के सिवा दूसरी गति नहीं है। यदि 'जान' और 'दृष्टि' के बीच में 'और' शब्द होता तो भी कुछ बात थी! 'लालचंद्रिका' के 'प्रतीप' को न जाने आपने क्यों छोड़ दिया। जब आदमी नक़ल करे तो पूरी ही करे। और आपका यह 'मुग्धाहाव' अपने प्रयोक्ता के मुग्धत्व की ड्यौंड़ी अलग पीट रहा है। विद्यावारिधिजी! 'मुग्धाहाव' नहीं 'मौग्ध्यहाव' कहिए। अन्यथा 'मुग्धाहाव' के साथ 'मध्याहाव' और 'प्रौढाहाव' आदि भी मानने पड़ेंगे, समझे जनाब!

'हावों' का हाल लिखते हुए 'साहित्य परिचय' के २९ पृष्ठ पर आपने स्वयं 'मौग्ध्य' लिखा है, और नहीं तो उसे ही देख लीजिए। पर आपको इससे क्या, वहाँ साहित्यदर्पण में 'मौग्ध्य' देखा वह नक़ल कर दिया, यहाँ 'मुग्धाहाव' देखा वैसा लिख दिया। नक़ल में अक़ल को क्या दख़ल। लल्लूलाल जी यदि भूल से 'सुधादीधिति' का पदच्छेद करके 'सुधा' को 'कला' में मिला गये और 'दीधिति' का अर्थ 'चन्द्रमा' कर गए तो इसका कारण था, वह बेचारे संस्कृत के विद्वान् नहीं थे, उनसे ऐसी अशुद्धि हो जाना सम्भव और क्षन्तव्य है, परन्तु आपको तो अपनी "विद्वद्वृन्दशिरोमणि" "विद्यावारिधि" की उपाधियों का ध्यान रखना चाहिए था, ये बेचारी अपने जी में क्या कहती होंगी, अपने कर्मों को कोसती होंगी!

महाराज ! शब्दों का दुष्प्रयोग बुरा होता है, इससे बचना चाहिए; क्या आपने आचार्य दण्डी का यह श्लोक नहीं सुना ?—

"गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥"

अपनी गरज न बोलियत, कहा निहोरो तोहि।
तू प्यारी मो जीय को मोजी, प्यारो मोहि॥३२१॥

"अपनी गरज से बोलते हैं इसमें मरा क्या निहोरा है तुम मेरे जी के प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है। काव्यलिङ्ग।" (पृ०११८)

मूल-पाठ में काट छाँट किए बिना श्रीमान् को सब्र नहीं आता। यह कुटेव छूटनी कठिन है। यहाँ 'गरजनि' का पदच्छेद करके और 'इकार' उड़ाकर 'गरजन' ही गढ़ दिया। तथा चौथे चरण में 'मोजिय' को 'मोजी' बनाकर कामा लगा दिया ! 'मोजी' के आगे का यह 'कामा' शायद 'जिय' के 'यकार' की यादगार है !

"कहा निहोरो तोहि" का अर्थ करते हैं—'इसमें मरा क्या निहोरा है' यह 'मरा' स्त्रियों की गाली है। स्त्रियाँ प्रायः 'जला' 'मरा' बोला करती हैं। विद्यावारिधि जी ने इसे शायद इसलिए रक्खा है जिससे यह पता चल जाय कि यह किसका बचन है। क्योंकि वैसे तो किसी दोहे के अर्थ में आप यह लिखते ही नहीं कि कौन किससे कह रहा है, सिर्फ़ क्रियाओं और महावरों द्वारा ही वक्ता का पता चलाया जा सकता है, सो वह भी यदि भाग्य से कहीं आ गए तो। सो इस 'मरा' से मालूम हुआ कि नायिका नायक से कह रही है कि—"तुम मेरे जी को प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है।"

बहुत ठीक है, ऐसा होना ही चाहिए, इसमें किसी का क्या निहोरा है, ऐसा कौन निष्ठुर होगा जो जी से प्यार करने वाले को प्यार न करे, वा उससे न बोले, यह तो एक बहुत मामूली और मोटी बात है ! फिर न मालूम कवि बिहारीलाल जी को यह क्या सूझी कि वह ऐसी साधारण बात के लिए भी दोहा बनाने बैठ गए ! क्या ऐसी ऐसी आम बातों के लिए भी काव्य बनाया जाया करता है ? इसमें (आपके काव्य-लक्षणानुसार) कौन सा"......रस सुख लोकोत्तर चमत्कार......" है कि इसे इस दशा में काव्य कहा जाय ! यह भी कोई बात नहीं, कि किसी से बोलने के लिए इसी की ज़रूरत हो कि वह बोलने वाले को जी से चाहता है। उदासीनता की दशा में और भले आदिमियों में दुश्मनी की हालत में भी, आपस में बोलचाल बन्द नहीं होती। इसके अतिरिक्त बोलनेवाली का

यह कहना कि 'मैं अपनी गरज से बोलती हूँ' इस दशा में व्यर्थ है, क्योंकि जब एक दूसरे को बराबर जी से चाहते हैं तो बोलने में दोनों की 'ग़र्जेमुश्तर्का' हुई, इसमें एक की ग़रज़ बतलाना सरासर ख़िलाफ़ क़ानून है। चाहे आप इस बात को किसी वकील से पूछ देखिये। दोहे की यह दुर्दशा करके भी आप फ़र्माते हैं—"काव्यलिङ्ग"। विद्यावारिधि जी! इसमें तो आपने काव्यत्व की एक बूँद भी नहीं छोड़ी, यह तो सूखे छिलके रह गये। अब इन कोरे शब्दों में आप कहाँ काव्य का लिङ्ग ढूँढ़ रहे हैं? कृपा कीजिए, काव्य-वाव्य का नाम लेकर सहृदय काव्य-रसिकों के साथ मज़ाक न कीजिए, कविता के जख्मों पर नमक न छिड़किए। आपकी टीका की प्रचण्ड-ज्वाला ने काव्य लतिका भस्म कर डाली। अब यहाँ काव्यलिङ्ग कहाँ है! हाय ग़ालिब! तुमने यह शेर इसी मौक़े के लिए तो नहीं कहा था!—

"जला है जहाँ जिस्म दिल भी जल गया होगा।
कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू क्या है॥"

सहृदय पाठकगण! आपने देखा बिहारी की इस अत्युत्कृष्ट उक्ति को किस प्रकार जला कर राख किया है!

यहाँ रोषभाव की शान्ति और औत्सुक्य भाव के उदय होने पर कलहान्तरिता की, अथवा प्रणयकुपित नायक को मनाती हुई नायिका की उक्ति है—अभिप्राय यह है कि मैं अपनी ग़रज़ से बोलती हूँ, कुछ तुझपर अहसान नहीं करती। जो मुझे अपना 'जी' प्यारा न होता और जी को तू प्यारा न होता तो तेरी ऐसी करतूतों को देखकर भी क्यों तुझसे बोलती! तुझसे बोले बिना 'जी' से रहा नहीं जाता, उसकी ख़ातिर सब बातों को भूल कर बोलना ही पड़ता है। जान बड़ी प्यारी चीज़ है, उसके लिए सब उपाय करने पड़ते हैं।

इसी दोहे के अर्थवाली एक गाथा "गाथासप्तशती" में है—

'बालअ तमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम्।
तं तइ विणा ण होइत्त तेण कुविअं पसाएमि॥ (३। १४)
(बालक! त्वत्तोधिकं निजकमेव वल्लभं ममजीवितम्।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि॥)

अर्थ—हे बालक—परपीडानभिज्ञ। तुझसे ज्यादह मुझे अपनी ही जान प्यारी है, वह तेरे बिना नहीं बचेगी, इसलिए तुझ रूठे हुए को मना रही हूँ।

इन दोनों के भाव में कितना सादृश्य है!

औंधाई सीसी सुलखि, बिरहबरी बिललात।
बीचै सूख गुलाब गो, छीटो छुई न गात ॥ ३८२ ॥

"हे प्रीतम ! एक सखी ने जो उलट कर सीसी उसके शिरपर डाली अर्थात् विरह से विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढ़काली (२) बीच में ही गुलाब सूख गया उसके शरीर में छींट भी न लगी। अयुक्तालंकार।" (पृ० १२८)

आपने भी अर्थज्ञान के विरह से विकल हो 'विल्लाते' (?) हुए बिहारी के काव्यामृत कटोरे को इस प्रकार लुढ़काला (?) है कि काव्य-प्रेमियों तक उसकी एक छींट भी न पहुँच सकी, सब का सब काव्य-रस बीच ही में सूख गया, या धूल में मिल गया। काव्यामृत-पिपासु देखते ही रह गए !

विद्यावारिधे। यह आप क्या कह रहे हैं ? ज़रा सोचिए तो सही ! 'हे प्रीतम !' कहकर नायक को कौन सम्बोधित कर रही है ! नायिका स्वयं तो कह नहीं रही, क्योंकि उसके शरीर पर तो सीसी 'लुढ़काली (?) गई है।' सखी नायिका का विरह नायक से निवेदन कर रही है, पर सखी नायक को 'हे प्रीतम !' नहीं कहा करती। सम्बोधन के इस अनौचित्य पर आपने ध्यान नहीं दिया ! और "अर्थात् विरह से विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढ़काली" इसका क्या मतलब है ? क्या 'सीसी लुढ़कालनेवाली' (?) स्वयं विरह से विकल हो विल्ला (?) रही है ? उसकी ऐसी दशा क्यों है ? उसे किसका विरह है ? फिर उसने वह 'सीसी' अपने ही ऊपर न लुढ़कालकर (?) किसी दूसरी के ऊपर क्यों लुढ़काली ! विरह की विकलता ही जो ठहरी ! वेचारी 'लुढ़कालना' अपने ऊपर चाहती होगी, जल्दी में घबराकर और के ऊपर लुढ़का दिया। पर बीच में ही गुलाब क्यों सूख गया, इसका कोई कारण ऐसी दशा में प्रतीत नहीं होता। यह 'अयुक्त' बात हुई इसीलिए शायद आपने यहाँ "अयुक्तालंकार" लिखा है !

साहित्य-शास्त्र में 'अत्युक्ति' और 'अतिशयोक्ति' अलंकार तो हैं, पर यह 'अयुक्तालंकार' आज तक न सुना था ! लल्लूलाल जी ने तो 'अत्युक्ति' में की इकार उड़ाकर उसे 'अत्युक्तालंकार' बनाया और श्रीमान् विद्यावारिधि जी ने उसमें से 'तकार' की मिलावट को भी निकाल बाहर किया और एक ख़ासा नये ढंग का 'अयुक्तालंकार' गढ़कर सतसई के गले मढ़ दिया। पुराने ओल्डफैशन के अलंकार आज कल की सुशिक्षित सोसाइटी में रद्दी और भद्दे हो गये, इसीलिए हमारे विद्यावारिधि जी 'लेखालंकार' 'काकोक्ति' 'भ्रान्तालङ्कार' 'अयुक्तालंकार' इत्यादि न्यू फ़ैशन के नये-नये अलंकारों से श्रीमती सतसई को "सर्वाङ्गभूषित" कर रहे हैं !

दोहे का साफ अर्थ यह है कि नायिका को विरहाग्नि से जलती और विलाप करती हुई छटपटाती देखकर, ताप-शान्ति के लिए उसके ऊपर गुलाब की शीशी उलटी की, परन्तु शरीर से जो विरहाग्नि की लपटें निकल रहीं थीं, उनसे गुलाबजल बीच ही में सूख गया, शरीर तक एक भी बूँद न पहुँची।

विरहताप का वर्णन बिहारीलाल ने जिस अपूर्वता, अधिकता और अतिशयोक्ति से अपने काव्य में किया है, वह बड़ा ही विचित्र है। इस विषय में वह सब को मात कर गये हैं।

कहे जु वचन वियोगिनी, विरह विकल अकुलाय।
किये न को अंसुआं सहित सोवत (?) बोल सुनाय ॥३९४॥

"उस वियोगिनी ने जो विरह से व्याकुल हो चिल्लाकर वचन कहे हैं उनको सोने को जाते में सुनाकर किसको आंसू सहित नहीं किया अर्थात् उसके शयन समय उसके दुःख की कथा को सुनकर सब रोने लगते हैं" (पृ० १३१)।

आप के श्रीमुख से भी बिहारी के काव्यकी दुर्दशा को सुनकर सब सहृदय रोने लगते हैं!

मूल के 'सुवा सु बोल सुनाय' को श्रीमान् ने 'सोवत (?) बोल सुनाय' बना दिया। इतने पर भी दावा है कि ....'कटोरे में कीचड़ नहीं मिलाई गई।' अकुलाय—घबरा कर काअर्थ आप 'चिल्ला कर' करते हैं।

उस वियोगिनी ने तो खैर 'चिल्लाकर' या घबरा कर वचन कहे हैं, पर 'उनको सोने को जाते में सुनाकर' किसने सुनाकर ? उस वियोगिनी ने ही सुनाकर या किसी और ने ? और ('उनको सोनेको जाते में सुनाकर' क्या अच्छी इबारत है!) 'किनको' सुनाकर ? उन्हीं वचनों को जो दिन में 'चिल्ला चिल्ला-कर' कहे थे ? मालूम होता है, वह 'वियोगिनी' दिन में (या जागते में) लखनऊ के मरसिया पढ़नेवालों की तरह खूब चिल्ला चिल्लाकर जिन वचनों का अभ्यास करती है, उनको ही 'सोने को जाते में' सुनाकर सब को रुलाती है। उसके शयन के समय उसके दुःख की कथा सुनने को, रोनेवालों की एक मज-लिस लगती है! रोज रात को दुःख की कथा बैठती है !!

"जमा करते हो क्यों रक़ीबों को।
इक तमाशा हुआ, गिला न हुआ॥"

यहाँ विद्यावारिधि जी के हाथ से अलंकार न जाने कैसे छूट गया! आश्चर्य है, इस बात को तो वह भूलनेवाले न थे! कविता की अन्त्येष्टि करके

भी वह उसके शरीर से अलंकार तो उतारा नहीं करते थे ! यह आज नयी बात कैसे हो गयी ? फिर क्या 'कहे जु बचन वियोगिनी' इस कविता के पास कोई भी अलंकार नहीं था ! जिस बिहारी की प्रत्येक कविता के पास एक एक छोड़ कई कई अलंकार हैं, 'अलंकारों की संसृष्टि' है, उसकी यह कविता अलंकारशून्य कैसे रह गई ! राजा के घर मोतियों का काल कैसे पड़ गया !

हरि कवि और लल्लूलाल कवि तो कहते हैं कि इस कविता के पास भी एक अलंकार था जो उन्होंने अपनी आँखों देखा था ! वह कहाँ गया ? किसने छीन लिया ?

देखिए हरि कवि इसके विषय में क्या लिखते हैं उन्हीं की जबानी सुनिए—"कहे जु इति । सखी सों सखी । एकान्त में कहे जो बचन वियोगिनी ने । विरह सों विकल 'दुखी होयकै अकुलायकैं' जो वचन वियोगिनी ने कहे । कौनकों आँसू सहित नहिं किये, किये हो, यह अर्थ काकुस्वरसों । 'सुवा ने सुबोल सुनाय' सुवा ने सु कहिये वे ही बोल सुनाय । ताहि बोलकौं सुनाय कैं । सुवा को बोल कारन, आँसू कारज । हेत्वलंकार ।" (हरिप्रकाश टीका)

और भी आप ने सुना ? हरि जी कहते हैं कि वियोगिनी ने तो 'सोने को' (या चाँदी को ?) जाते में' दुःख की कथा किन्हीं सब को नहीं सुनाई थी, वह बेचारी तो एकान्त में बैठ कर चुपके से रोई थी । विरह की विकलता से घबराकर, बेअख्त्यार उसके दुखी दिल से कुछ वचन निकल गये, उसने अपने 'शयन समय' किसी को रुलाने के लिए दुःख की कथा नहीं कही थी ! पर बद-क़िस्मती से वहाँ (एकान्त स्थान में) पिंजरे में बैठे 'गङ्गाराम' सुन रहे थे, उन हज़रत ने वे सुने हुए वचन दोहरा कर सब के सामने भाँड़ा फोड़ दिया । और विद्यावारिधि जी ने स्वयं ही वियोगिनी पर सब के सामने निर्लज्जता से दुखड़ा रोने का इलज़ाम लगा दिया !

'क़ाबिले-अफसोस है उस शख़्स की रुसवाई भी ।
परदे ही परदे में कम्बख़्त जो रुसवा हो जाय ! !"

तजो (?) आंच अति विरह की रह्यो प्रेम रस भीजि ।
नयननि के मग जल बहै, हियो पसीज पसीज ॥२८॥

"हे, सखी ! अब इसका शरीर विरह की आँच से तचा है और प्रेम के रस में भीजकर हृदय से पसीज पसीज कर नेत्रों के मार्ग से जल बहता है । समासोक्ति ।" (पृ० १४२)

हा भगवति बिहारि-कविते । शोच्यासि, यदेवं तपति समुच्छि-न्नाज्ञानान्धकारे प्रकाशित दिक्चक्रवाले ललाटन्तपे ज्ञानसहस्रांशौ, परित्रायतां हन्यमाना तपस्विर्नीत्यूर्ध्वबाहु समाक्रन्दति त्वद्भक्तवृन्दे प्रचराति च दुःसाहसिक-हृदयविकम्पने महामहिमाशालि-चक्रवर्ति-जार्जमहाप्रभुशासनचक्रे, सोरस्ताऽम-ब्रह्मण्यमुद्घोषयन्ती, त्वमकरुण मुरोविदारं व्यापाद्यसे!!! परमेशः परलोक-प्रस्थितायास्ते सद्गति विदध्यादित्याशिषमन्तरा किमन्यद्ददामः शोकशुष्क-हृदया मन्दभाग्या वयम् !!

हा बिहारीलाल ? किस बुरे मुहूर्त में तुम यह कविता करने बैठे थे ! क्या तुमने भी किसी जन्म में किसी की कविता को इसी प्रकार भ्रष्ट किया था जिसका यह बदला अब तुमसे लिया जा रहा है ! ज़रूर कुछ ऐसी ही बात है, अन्यथा तुम्हारी अमृतरस निष्पन्दिनी सूक्ति-लता पर इस प्रकार कुठार-प्रहार करके उसे अनर्थाग्नि की ज्वाला में न झोंका जाता !!

विद्यावारिधि जी ! सच बतलाइये आप इस कविता के पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हैं ? इस ग़रीब ने आप का क्या बिगाड़ा है जो आप इसे इस तरह बिगाड़ रहे हैं ! साधु पुरुषों का यदि किसी के साथ कुछ बैर भी होता है तो भी वह इस तरह उसके प्राणों के ग्राहक नहीं हो जाया करते ।

बुरा मानने और नाराज़ होने की बात नहीं, जरा शान्त-चित्त होकर सोचिये कि यदि श्रीमान् विद्वद्वृन्दशिरोमणि विद्यावारिधि जी, कोई अत्युत्कृष्ट कविता लिखें, ग़लती हुई, माफ़ कीजिए, मेरे शब्द वापस दीजिए, ऐसा भला आप क्यों करने लगे, अच्छा तो यों समझिये कि श्रीमान् अपने जन्म भर के परिश्रम से बहुत सा द्रव्य व्यय करके सर्वसाधारण के उपयोगार्थ "अति ललित, मधुर, मग्ब," पुष्प-फलों से सर्वाङ्गभूषित कोई सुरम्य उद्यान (बग़ीचा) लगावें, जिसके पुष्प और फलों से अनेक प्राणियों का उपकार हो रहा हो अब यदि कोई महापुरुष दुरुस्त करने के बहाने से उसे उखाड़ पछाड़ और काँट छाँट करके इंधन बनाने लगे और फलपुष्प-समन्वित वृक्षों की जगह बबूल और कँटैलों के काँटेदार झाड़ बोने लगे तो कितने अनर्थ और शोक की बात है ! प्रत्येक सहृदय पुरुष को इससे क्षोभ और दुःख होगा कि नहीं ?

वह भौंरे जो उसके पुष्पों का मकरन्द पान करके मस्त रहते थे, वह पक्षिगण जो उसके अमृतोपम फलों को खाकर इन्द्र के उद्यान को भी तुच्छ समझते थे, उस बग़ीचा बरबाद करनेवाले की जान को क्या दुआ देंगे ? उनकी सन्तप्त आत्मा का सब्र किसपै पड़ेगा ?

क्या इस दुर्घटना से आपके हृदय-पर आघात न पहुँचेगा ? पहुँचना तो ज़रूर चाहिए, सब की यही राय है !

कोई बिहारी की आत्मा से पूछे, 'न्यूटन' को अपने उस अमूल्य ग्रन्थ के जलने पर इतना दुःख न हुआ होगा, जितना बिहारी को अपनी कविता के इस संहार पर हो रहा होगा !

न्यूटन ने अपनी उस क्षति को किसी प्रकार अन्य ग्रंथ लिखकर पूरा भी कर दिया था, पर बिहारी को अब कहाँ से लायेंगे ?

(१) "**हन्त कविते देवि ! निराश्रयासि, कमाक्रन्दामः । कस्ते साहाय्यं विधास्यति ? निन्द निजभागधेयं ! अलंघनीया नियतिः !**

सहृदय काव्यरसिकगण ! यह दोहा कवि कल्पना का अलौकिक और अत्युत्कृष्ट नमूना है, कवि की अपूर्व प्रतिभा का चमकता हुआ चमत्कार है, कविता देवी का मनोमोहक सुन्दर चित्र है। वाग्देवी का मुखदर्पण है !

ऐसी ही कविता के विषय में यह कहा गया है—

"ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टलोका कवयितुः कृतिः ॥"

ऐसी अनूठी उक्तियों के कारण ही सतसई विदग्ध काव्य-प्रेमियों के कण्ठ का कण्ठा और हृदय का रत्नहार बनी हुई है, या कभी बनी हुई थी, कहना ठीक होगा !

जैसा उत्कृष्टतम यह दोहा है, ऐसा ही निकृष्टतम इसकी यह टीका है। यही क्यों, जहाँ मारा है, विद्यावारिधि जी ने रग पर नश्तर मारा है ! सतसई में जो जितने अच्छे दोहे हैं, उतनी ही अधिक दुर्दशा की गयी है, कोई किसे किसे रोवे !

"हैरां, हूँ दिल रोऊँ कि पीटूँ जिगर को मैं,
मक़दूर हो तो साथ रक्खूँ नौहागर को मैं,,। (ग़ालिब)

विद्यावारिधि जी की सताई हुई सतसई के उत्तम पद्यों को रोने के लिए तो "नौहागरों की एक पलटन दरकार है ! एक आध नौहागर (मातम करने वाला—रोनेवाला) को साथ रखने से काम न चलेगा।

दोहे का शुद्ध पाठ और अर्थ इस प्रकार है—

"लख्यो अँच अति विरह की, रह्यो प्रेम रस भीज।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीज पसीज ॥"

कोई किसी के विरह में रो रहा है (या रो रही है) आँसू टपाटप गिर रहे हैं, उसे दिखा कर कोई अपने साथी से कहता है, अथवा रोनेवाला (विरही) स्वयं किसी के पूछने पर कि क्यों रोते हो, अपने बहते हुए आँसुओं के बारे में कहता है—प्रेम के रस में भीगा हुआ और विरह की तेज़ आँच से तचा (तपा) हुआ पसीज पसीज कर यह हृदय पानी के रूप में आँखों के रास्ते से बह रहा है !!

जब किसी चीज़ का अर्क़ निकालना होता है तो (यदि वह चीज़ सूखी हो) उसे भिगोकर आँच पर चढ़ा देते हैं और नलके से अर्क़ निकालते हैं। इस अप्रस्तुत पदार्थ की प्रतीति नेत्रों से बहते हुए आँसू रूप प्रस्तुत पदार्थ से होती है। इसलिए इस लक्षण के अनुसार—

समासोक्तिः परिस्फूर्त्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य यत्।"[1]

पूर्वोक्त दोहे में 'समासोक्ति' अलङ्कार है। परन्तु विद्यावारिधि जी "......**शरीर**......तचा है।......प्रेम के रस में भीज कर **हृदय** से पसीज पसीज कर नेत्रों के मार्ग से जल बहता है......यह विचित्र अर्थ करके भी 'समासोक्ति' बता रहे हैं! "शरीर तचा है, प्रेम के रस में भीग कर...पानी बहता है" मतलब यह कि सूखा पानी नहीं बहता, किन्तु वह प्रेम के रस में भीग कर बहता है (?) उस पानी का 'हृदय' से सिर्फ़ इतना ही वास्ता है कि तचे हुए **शरीर** का पानी (पसीना !) उसमें आकर जमा होता है, और वहाँ औटकर फ़िल्टर होता है, बस फिर आँखों के वाटरपम्प से बाहर निकल जाता है !!!

ठीक है, इस दशा में भी समासोक्ति अलंकार बना ही हुआ है। क्योंकि आँखों से पसीना या पानी निकलने रूप प्रस्तुत पदार्थ से—वाटरवर्क्स से नल द्वारा निकलते हुए जल रूप अप्रस्तुत पदार्थ की प्रतीति होती है !!

पर विद्यावारिधि जी की 'समासोक्ति' में और बिहारीलाल की समासोक्ति में जो अन्तर है वह स्पष्ट ही है।

इस दोहे पर 'सुकवि' पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की कुण्डलिया पढ़ने लायक़ है, दोहे के साथ मिलाकर इसे पढ़िए—

---

[1]उपमेय में उपमान की जो परिस्फूर्ति = अभिव्यक्ति है उसी को समासोक्ति अलंकार कहते हैं।

"हियो पसीज पसीज हाय हग द्वार बहत है,
काजर नहिं जरि गये अधिक रँग श्याम गहत है।
'सुकवि' बूँद मिस टूक टूक ह्वै निकरि चल्यो सब,
हा याही में प्रीतम है यह तच्यो आँच अब ॥"

बिहारी के दोहे का समानार्थक किसी संस्कृत कवि का यह पद्य है—

"अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीतित्वमुच्चैः
सखि ! किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनङ्गाङ्गारसङ्गाद्विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते ! नैतदश्रु ॥"[1]

किसी फ़ारसी कवि का यह शेर भी (इसी मतलब का) सुनने लायक़ है—

"चमेपुर्सी ज़ हाले मादिले ग़म दीदाअत चूँ शुद।
दिलन् शुद ख़ूँनो, ख़ूँ शुद आबो आब अज़ चश्म बेरूँ शुद ॥"[2]

प्रायः ऐसा होता है कि भिन्न भाषा-भाषी और भिन्न देश-निवासी कवियों के भाव और विचार बहुधा आपस में इस प्रकार मिल जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है और ऐसा मालूम होने लगता है कि एक दूसरे की कापी कर रहा है ! अक्सर कुकवि तो दूसरे का अर्थ चुरा कर भी इस प्रकार का सादृश्य

---

(१) अर्थ—'तू नित्य प्रति बहुत रोती रहती है' ऐसा कह कर हे सखी ! तू मुझे व्यर्थ क्यों बदनाम करती है ! काम के अङ्गारों से पिघल पिघल कर यह हृदय पानी हो कर बाहर निकल रहा है, हे सुस्थिते ! (विरहपीड़ानभिज्ञे) यह आँसू नहीं है—(नैननि श्याम को रूप रह्यो सोउ जात बह्यो अँसुवान की धारें)" विरहिणी के रोने पर किसी की यह उत्प्रेक्षा भी बड़ी बढ़िया है —

अङ्गानि मे दहतु कान्त-वियोग-वन्हिः संरक्षयां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुबिन्दुधाराभिरुष्णमभि पिञ्चति हृत्प्रदेशम् ॥

अर्थ—प्रिय की वियोगवह्नि (अग्नि) मेरे अङ्गों को जलाना चाहे तो जलादे किन्तु जो प्रियतम हृदय में विराजमान है उसकी रक्षा करनी चाहिए। मानो इसी अभिप्राय से यह सुन्दरी गिरते हुए आँसुओं की धारा से उष्ण—जलते हुए हृदय प्रदेश को सींचती है।

(२) "तेरी जुदाई का ग़म खाए हुए मेरे दिल का हाल क्या पूछता है ? दिल का खून हुआ, वह खून पानी बना और पानी आँखों की राह से बाहर निकल गया !

दिखा देते हैं, परन्तु बिहारी जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली महाकवियों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। किसी एक विषय पर दो कवियों के भाव-सादृश्य को जो स्वतः ही अचानक और अनायास रूप से कवि के प्रतिभा-पट पर अङ्कित हो प्रकट हो जाते हैं, फ़ारसी में 'तवारुद्' कहते हैं। ऐसे स्थल 'सतसई' में भी कई हैं, संस्कृत और उर्दू फ़ारसी के पद्य सतसई के दोहे से कहीं कहीं टकरा जाते हैं सही, पर वह बात, वह लक्ष्यभेदिता और दृढ़पातिता जो इन 'नावक के तीरों' में है, दूसरी जगह कम हैं। ज़रा सतसई इस समय संहार से बच जाय, बिहारी का यह काव्य-चन्द्र इस अनर्थोपराग से छूट जाय, तो इस पर विस्तृतरूप से हम कभी फिर लिखेंगे और बिहारी की अलौकिक कल्पना के उत्कृष्ट उदाहरण सहृदय काव्य मर्मज्ञों के सामने रक्खेंगे।

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

(श्री रामचन्द्र शुक्ल)

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुनने वाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है; पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। अतः ऐसा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही होगा, विभाव-विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य-मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती। केवल भाव-प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा

कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं* ।

इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है; अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्ब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है', तो वह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त्त भावना हो ही नहीं सकती* ।

---

* **अभिव्यंजना-वाद** (Expressionism) **के प्रवर्त्तक क्रोसे** (Benedetto Croce) **ने कला के बोध-पक्ष और तर्क के बोध-पक्ष को इस प्रकार अलग-अलग दिखाया है**—(**क**) Intuitive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or individual things. (**ख**) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect, knowledge of the universal, knowledge of the relations between Individual things.

—'Aesthetic' by Benedetto Croce.

*साहित्य-शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय में जो बाधा पड़ी है उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अन्तर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क में भाषा के संकेत-पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अतः न्याय में तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष (Presenta-

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहीं जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान-धर्मवाली कोई मूर्त्ति-विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में न आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन

---

tive aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्ब-ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्त्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में न्याय का यह हाथ बढ़ाना डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होंने कहा है—It is, however, to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetorie, etc., anb thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite.—*Introduction (The Nyaya Sutras).*

में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता हैं; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सब के भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—' इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रसरूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने-वाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करनेवाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है— यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में

प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

जहाँ पाठक वा दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है; अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है; उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव-व्यञ्जना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबन्ध-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोड़ा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन में बार-बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर

ग्मण और अङ्गद देते हैं उससे कथा-श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की ुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। 'म में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है; द्वितीय में नी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक ा में मिल जाता है। उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव-व्यंजना में भी यह ा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न ा उस समय तक भाव-व्यंजना करनेवाले आश्रय को अपने से अलग रखकर के शील आदि को ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही वह की भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील-दर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यंजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के ल-सौन्दर्य की भावना जिस समय रहेगी उस समय वही श्रोता या पाठक का लंबन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस प्रधानता रक्खी है, इसी से दृश्य काव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और ारणीकरण की ओर रहती है। पर योरप के दृश्य काव्यों में शील-वैचित्र्य अन्तःप्रकृति-वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से क को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अतः इस वैचित्र्य थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्य के साक्षात्कार से केवल तीन बातें सकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन, या) कुतूहल-मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, ा हरिश्चन्द्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानन्द नाटक में ूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिए अनुरोध करना इत्यादि न-वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-ेत श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवाले ों की भाव-व्यंजना को अपनाकर वह उसमें लीन भी हो सकता है। ऐसे ों का शील विचित्र होने पर भी भाव-व्यंजना के समय उनके साथ पाठक श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में हूण-सम्राट् मिहिरगुल पहाड़ की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न-भिन्न ढंग से अपने आह्लाद की व्यंजना करे तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःशीलता की और-और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्त्विकी और तामसी प्रकृतियों की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है, सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा में होती हैं। वे किसी वर्ग-विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती हैं। जैसे, भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरगुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग-विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute vision) का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है; वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र-चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर-प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया, पर उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से सम्पन्न मिले जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अन्तःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव-व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक में अंटोनियों के लम्बे भाषण

से जो क्षोभ उमड़ा पड़ता है उसमें किसका हृदय योग न देगा ? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का असामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवथा का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग-विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन सृष्टि-निर्माण वाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप में ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धान्त या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत यह एक सूत्र-सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि कुछ रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नक़ल करता है जो न वास्तव में उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि-निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन की नक़ल करनेवाले बहुत-से खड़े हुए थे; वे अपनी बातों का ऐसा रूप-रंग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कहीं का न जान पड़े*।

---

* After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. ....,It might also be said that the poetic

यह उस प्रवृत्ति का हद के बाहर पहुँचा रूप है जिसका आरम्भ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान-काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले काव्य की रचना काल को अखण्ड, अनन्त और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करनेवाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल के आगे आनेवाला काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्त्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है—किसी जन-समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम; किसी जन-समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती थी कि लोक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान-काल' से धीरे-धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ता गया, प्राचीनों की भूल प्रकट होती गई। अन्त में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़नेवाले बड़े-बड़े पण्डितों ने पुनरुत्थान की काल-धारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित-समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने-दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उस की सार-सत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं वहाँ कुछ अभिन्नता भी पाई जाती है। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी

---

atmosphere became that of the supreme palace of wonder—*Bedlam*.

Bailey, Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense. They only affected madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere.'

—'*Poetry and the Renascence of Wonder*' *by Theodore Watts Dunton*.

ँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अन्तर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यही सामान्य अन्तर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य-रचना की रूढ़ि या परम्परा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलनेवाले बाहरी रूप-रंग इत्यादि पर यह स्थित नहीं है। इसकी नींव गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर उल्लेख हुआ है उसने स्वच्छन्दता के आन्दोलन (Romantic movement) के उत्तर-काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्णरूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसी लिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैंकड़ों, हज़ारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय; व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय। हुआ भी यही। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत-से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नक़ली हृदयों' का एक कारखाना हो गया!

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़ेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरपीय काव्यदृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे जो मनुष्य-मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं। सारांश यह कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में, इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्तःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनन्द के रूप में ही मानी जाने लगी जिस आनन्द के लिए हम नई-नई, सुन्दर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनन्द कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल-मात्र होता है।

'व्यक्तित्व' ही को ले उड़ने से जो परिणाम हुआ है उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है। 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रखकर पश्चिम में कई प्रसिद्ध 'वादों' की इमारतें खड़ी हुईं। इटली-निवासी क्रोसे (Benedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नहीं सके हैं*।

---

*Matter is emotivity not aesthetically elaborated i. e, impression. Form is elaboration and expression.

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई, 'विशेष' के
पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि
कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति
रीक्षा के लिए विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिन्दी की मासिक
ाओं में समालोचना के नाम पर आज कल जो अद्भुत और रमणीय
योजना-मात्र कभी-कभी देखने में आया करती है वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति
ानुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य-संबन्धी
ोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आन्दोलन दस-बारह वर्ष से
नहीं चलता। ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में
काव्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य
ााभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता-मात्र रह गई।
ा चाहे हो, चाहे न हो; कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो।
ोरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़
कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-
सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ
तो नए-नए ढंग की उच्छृङ्खलता, वक्रता, असम्बद्धता, अनर्गलता इत्यादि
ा प्रदर्शन करने में लगे। थोड़े-से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृत मार्ग
ालते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढङ्ग की
लगी* ।

योरप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्ति-
इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे वे अब वहाँ मरे हुए आन्दोलन समझे

< × × Sentiments or impressions pass by means of
ds from the obscure region of the soul into the
ity of the contemplative spirit.—'Aesthetic.'

* Wherever attempts at sheer newness in poetry
e made, they merely ended in dead movements.
× × × Criticism became more dogmatic and unreal,
try more eccentric and chastic.

—"*A Survey of Modernist poetry*" by *Laura Riding and*
ert Graves (1927).

जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब फिर साफ़ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के सम्बन्ध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फ़ैशन के ख़िलाफ़ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते* ।

---

* The modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to issue au announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of the Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian dead movement did).

—"*A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves (1927).*

श्रद्धा-भक्ति

(श्री रामचंद्र शुक्ल)

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का सञ्चार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी, वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवाएँगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निन्दा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वाञ्छित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे; पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ों, हज़ारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है

उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। क
अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण
एक शक्ति-केंद्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-कें
का उदय होता है उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मे
खण्डों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कार
परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा सी उमड़ पड़ती
और मङ्गल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का सङ्घटन उसके शरीर
व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का सङ्घ
उसके फैलाए हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिन्तन हम आँ
मूँदे हुए, संसार को भुलाकर, करते हैं; पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आँख खो
हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्र
जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार
अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रे
में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय
बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई व
चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न
जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनन्दान्तर्गत भाव प्रेम है या श्रद्ध
यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चि
बहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति
सुहृद्-भाव उत्पन्न हुआ तो वह भाव श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य वा चित्र-
मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्र
का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-र
दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका स
कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अ
लाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पी
सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फि
हैं, पर सबका उठना-बैठना, चलना-फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगत
प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तै
करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा

दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है ; दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरत मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार में सामाजिकता आ गई; क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह वाह' करते जायँगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझनेवाले या क़द्रदान ही कहलाएँगे; पर जब हम उसके दर्शन के लिए आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने हो रखना चाहेंगे, तब प्रेम का सूत्रपात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान् अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि-रूप में उसके अन्तर्गत न भी हों—जान-बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि-रूप में प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिए समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रक्खा है। यह काम उसने इतना भारी समझा कि उसका भार सारे मनुष्यों को बाँट दिया है, दो-चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रक्खा है। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाए

जायँगे उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रक्खें, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रक्खें,—इसकी हमें परवा क्या इच्छा ही नहीं होती; क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि-रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अन्तःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है। पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं। अपने साथ किए जानेवाले जिस व्यवहार के लिए वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब वे अपने को किसी समुदाय का अङ्ग समझने लगते हैं। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने सम्बन्धी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गई है तो यह हमारा पाषंड है, हम झूठ-मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारण-कर्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस-पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे संसार से सम्बद्ध करके करते हैं, अपने से या किसी विशेष प्राणी से सम्बद्ध करके नहीं। हम देखते हैं कि किसी मनुष्य में कोई गुण या शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार। अतः जिसकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनको इतनी समाई नहीं कि वे श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय

में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अन्तःकरण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—

१. प्रतिभा-सम्बन्धिनी,

२. शील-सम्बन्धिनी और

३. साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा-शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वत्ता) सञ्चित किया जाता है। कला-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी-बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सके तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि-संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला-सम्बन्धिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना जन-समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला-सम्बन्धिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी-बहुत अवश्य रहेगी। अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहङ्कार के दोषारोपण से बच जाया करेंगे।

पर शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है; अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि-भेद, मत-भेद आदि नहीं। सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ-त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य-धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं, हम समाज में रहने योग्य नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा द्वारा हम यह आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं, अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को

रहना चाहिए, जिसमें जब कभी अवसर आए तब वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाय।

अब रह गई साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा की बात। यहाँ पर साधन-सम्पन्नता का ठीक ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-सम्पन्नता है। यदि शिक्षा-द्वारा उसके भाव उन्नत हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है; यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छन्दोबद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जायँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

देशी कारीगरी, चित्रकारी, सङ्गीत आदि में नियम-पालन के अभ्यास द्वारा प्राप्त इस साधन-सम्पन्नता ही पर इधर बहुत दिनों से अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और मानव-हृदय पर इन मनोहारिणी कलाओं के प्रभाव का बहुत कम विचार होने लगा था। बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उसमें बहुत सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेल-बूटों की भिन्न-भिन्न पटरियाँ दीवारों में जमाई हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाए स्पष्ट न जान पड़ेंगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालों ने नहीं किया, यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। ऐसे कामों में अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है ; पर विचार और सहृदयता-पूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज़ नहीं है, दस पाँच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज़ है।

चित्रकारी की दशा भी इसी प्रकार की हो गई थी। राधा-कृष्ण कदम्ब के नीचे खड़े हैं। कदम्ब की एक-एक पत्ती अलग-अलग बारीकी के साथ बनी दिखाई पड़ती है। राधा की चुनरी की एक-एक बूटी बड़ी सावधानी और मिहनत के साथ बनाई गई है। देखनेवाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर पर खड़ा होकर कदम्ब और राधा-कृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि

यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड़ पर चढ़ता है और कभी नमूना लेने के लिए चुनरी हाथ में लेता है। ऐसी रचनाओं के प्रति यदि श्रद्धा प्रकट की जायगी तो वह अभ्यास, श्रम और बारीकी अर्थात् साधन-सम्पन्नता के विचार से होगी, साध्य की पूर्णता अर्थात् कला के विचार से नहीं जिसका उद्देश्य मानव हृदय पर मधुर प्रभाव डालना है।

सङ्गीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो सङ्गीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का सञ्चार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी क़वायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लम्बी क़वायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-वाह' 'ओहो हो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालङ्कार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रमसाध्य अङ्ग थे वे तो हद से बाहर घसीटे गए और जितने सहृदयता से सम्बन्ध रखनेवाले थे उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान् रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फ़ीलपाव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की तलवार की-सी हो गई।

किसी मनुष्य में बहुत अधिक शारीरिक बल देख उस पर जनसाधारण की श्रद्धा होती है और होनी चाहिए। प्रो० राममूर्ति को मोटर रोकते, लोहे के मोटे-मोटे सीकड़ तोड़ते, छाती पर ४० मन का पत्थर रखते, हाथी खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक बल के कारण उन पर श्रद्धा होती है। अब इस सम्पन्नता का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं और अनुपयोग भी कर सकते हैं। वे इसके द्वारा किसी भारी सङ्कट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते हैं। पर हमारी श्रद्धा बिना सदुपयोग या दुरुपयोग की सम्भावना की कल्पना किए शुद्ध साधन-सम्पन्नता ही पर होती है। कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन-सम्पन्नता ही के सम्बन्ध में होती है, उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वत्ता किसी विषय की बहुत-

सी बातों की जानकारी का नाम है जिसका सञ्चय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भण्डारी और उपयोगकर्ता दोनों हो—अर्थात् वह उत्तम चिन्तक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस सञ्चित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे। यदि विद्वान् में यह प्रतिभा नहीं है—यह शक्ति नहीं है तो वह अपनी सञ्चित जानकारी को कला-कुशल और प्रतिभाशाली लेखकों या तत्त्वान्वेषकों के सामने रख दे कि वे उससे आवश्यकतानुसार काम लें। इसी रीति से उसकी विद्वत्ता सामाजिक उपयोग में आ जायगी।

भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाली श्रद्धा भिन्न-भिन्न मात्रा की हुआ करती है। यदि किसी को शारीरिक बल, साहस या चतुराई पर अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है। अत्याचारियों के बल, डाकुओं के साहस और लम्पटों की चालाकी की तारीफ़ संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। एक बात और है। यदि किसी पर किसी एक विषय में अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर ध्यान नहीं जाता और कभी ध्यान भी जाता है तो वे भी सुहावनी लगती हैं। कोई प्रतिभाशाली कवि विलासप्रिय, मद्यप या सनकी है तो जो अत्यन्त काव्य-प्रेमी होंगे उनकी घृणा को उसके ये दुर्गुण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे। यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़ी रुचि के साथ करेंगे और सुनेंगे। बात यह है कि मनुष्य का अन्तःकरण एक है। उसकी एक साथ दो परस्पर विरुद्ध स्थितियाँ नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धान्धता कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धान्ध समाज में उतना अनर्थकारी नहीं हो सकता, उतना अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, जितना मदान्ध, क्रोधान्ध या ईर्ष्यांध; पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते-बढ़ते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील-सम्बन्धिनी चेतना को बिलकुल जवाब मिल जाने पर समाज के अनिष्ट में उसके व्याज से सहायता पहुँच सकती है।

यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यन्त श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोड़ा-बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है जो कविजी अपने सहवर्तियों के बीच करने में समर्थ होते हैं। यदि किसी पहलवान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलवा-पूरी खाने के लिए कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुण्डेपन के कारण लोगों को पहुँची हुई पीड़ा के दोष का वह कम से कम उतना भाग

अवश्य पा सकता है जितना इन्द्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन दोनों श्रद्धालुओं पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता; पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता-सम्बन्धी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन-सम्पत्ति—श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है। उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यन्त वांछनीय वस्तु है; क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिसपर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिए फूलों की पंखड़ियाँ—आज-कल लाल बनात—बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, चाई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए—इन्हें सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से। इनमें से मन तो देखने-दिखाने की चीज़ नहीं। वाणी और कार्य-प्रणाली की नक़ल की जाती है, और बड़ी सफ़ाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं-कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक

अवश्य पा सकता है जितना इन्द्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन दोनों श्रद्धालुओं पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता; पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता-सम्बन्धी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन-सम्पत्ति—श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है। उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यन्त वांछनीय वस्तु है; क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिसपर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिए फूलों की पंखड़ियाँ—आज-कल लाल बनात—बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, चाईं और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए—इन्हें सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से। इनमें से मन तो देखने-दिखाने की चीज़ नहीं। वाणी और कार्य-प्रणाली की नक़ल की जाती है, और बड़ी सफ़ाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं-कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक

करते हैं या कम से कम उसके महत्त्व को बहुत कम करके दिखाया करते हैं। दूसरी पहचान यह है कि ये लोग ऐसे ही काम ठानते हैं जिनका नाम और आडम्बर बड़ा होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय में कोई ऐसा परिवर्त्तन उपस्थित नहीं किया चाहता जिसका अपने लिए कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने की इच्छा कर सकता है; पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने को नहीं। श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रक्खे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता। पर जब कि इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है। न्याय बिकता है, धर्म बिकता है—तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें? पर असली भाव तो इस लेन-देन के व्यवहार के लिए उपस्थित नहीं किए जा सकते। खैर, नक़ली सही। एक भाव पर दूसरे भाव की क़लई करके हम बाज़ार में क्यों न जायँ? अपनी भीरुता या चापलूसी का हम 'श्रद्धा श्रद्धा' कह कर गलियों और संवाद-पत्रों में क्यों न पुकारें? ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिर कर झूठे श्रद्धा-पात्र सच्चे श्रद्धा-पात्रों को क्यों न मात करें, जब कि आज-कल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं?

कला-कुशल या सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है; अतः अपनी श्रद्धा द्वारा हम उसे अपनी प्रसन्नता का निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा द्वारा हम भी समाज का मङ्गल-साधन करते हैं। दूसरे की श्रद्धा का श्रद्धेय पर इतना ही प्रभाव पड़ना चाहिए, इससे अधिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा के कारण वह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाना चाहता है तो वह हमारी श्रद्धा को खुशामद समझता है और हमारा अपमान करता है। श्रद्धा में याचकता का भाव लेश मात्र भी नहीं है। श्रद्धा द्वारा हम अपने हृदय का परिचय मात्र देते हैं कि उसमें मार्मिकता या धर्म-भाव है—सात्त्विक आचरण या प्रतिभा की कला से प्रसन्न होने की क्षमता है। यदि हमें किसी पर श्रद्धा है तो हमें उसके पास जाकर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'महाराज! मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो'। इस प्रकार की स्वीकृति की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी श्रद्धा लिये अपने घर बैठे रह सकते हैं या उसे इस रीति से प्रकट कर सकते हैं जिस पर श्रद्धेय का कोई वश नहीं। यदि हमें

किसी सुलेखक पर श्रद्धा है और वह हमसे रुष्ट है तो भी हम उसका सच्चा चित्र और चरित्र छाप सकते हैं। इसका स्वत्व हमें समाज द्वारा प्राप्त है—इसका हक़ हमें क़ानूनन हासिल है पर वही यदि हम उस सुलेखक से प्रेम करने चलें, उसके साथ-साथ लगे फिरें और हर दम उसे घेरे रहें तो वह हमें हटा सकता है। श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं; क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से या स्वार्थ-वश प्रकट की तो किसी की उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से या द्वेष-वश प्रकट की तो व्यर्थ का सन्ताप और दुःख फैल सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील, प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रञ्जन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की सम्भावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है। समाज अपने श्रद्धालु प्रतिनिधियों को कभी तो उसे आपत्ति से बचाने के लिए भेजता है—कभी कुछ भेंट उसके सामने रखने के लिए। श्रद्धा-वश जो दान दिया जाता है वह इसी प्रकार की भेंट है। सच्चा दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धा-वश दिया जाता है, दूसरा वह जो दया-वश दिया जाता है। पण्डितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धा-वश दिया जाता है; अन्धों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है वह दया-वश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति। जन-साधारण अपनी दया द्वारा केवल असामर्थ्य के उपस्थित परिणामों का, कुछ स्थान के बीच और कुछ काल तक के लिये, निवारण कर सकते हैं; अतः श्रद्धा द्वारा वे ऐसे असाधारण जनों को अपने वित्तानुसार थोड़ी-थोड़ी शक्ति प्रदान करते हैं जो असामर्थ्य के कारणों के निराकरण में समर्थ होते हैं।

श्रद्धा-वश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा हुआ है। स्मृतियों में श्रद्धा-वश दान पर बड़ा ज़ोर दिया गया है और ऐसे दान के विषय में पात्रापात्र का विचार भी ख़ूब किया गया है। विद्या-दान में रत विद्वानों को, परोपकार में रत कर्म-वीरों को, मानव-ज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझनी चाहिये। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धा-वश देते हैं वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस-रूप में उसका संचार अंग अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को

जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतीसार या संग्रहणीवाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष में श्रद्धा का सम्बन्ध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है; इसी से शुष्क प्रथानुसरण के रूप में भी यदि कुछ दिया जाता है तो श्रद्धा का नाम ले लिया जाता है। पंडों-पुरोहितों को देते हुए यजमान भी कहता है कि 'महाराज! इतनी ही श्रद्धा है' और पण्डे-पुरोहित भी कहते हैं कि 'जितनी श्रद्धा हो उतना दो'; यद्यपि इन पण्डों और पुरोहितों के सम्बन्ध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। मनोविकार के उपयुक्त विषयों के निश्चय में कभी-कभी बुद्धि की भी थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती है। क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रति किसी को श्रद्धा होती है और किसी को अश्रद्धा, इसका कारण घृणा के अन्तर्गत अच्छी तरह दिखाया गया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य-भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय को भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखनेवाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति-रस का सञ्चार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे, तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन-क्रम का थोड़ा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन-क्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभ याञ्चा करते हैं। सारांश यह कि भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं—उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके हम बहुत करेंगे समय-समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे, उसकी निंदा करनेवालों से झगड़ा करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे; पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जायगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है—वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योगदान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत कुछ अंश स्वार्थ (परिवार वा शारीरिक सुख आदि) से विभक्त करके किसी के

आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम है आत्मनिवेदन।

महात्माओं के ऊपर श्रद्धा मात्र करके हम उन्हें जीवन-शक्ति द्वारा उपार्जित कोई फल अर्पित कर सकते हैं; पर उनके भक्त होकर हम उन्हें अपने जीवन ही के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीर-व्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता द्वारा उसके लिए कुछ सुबीता कर सकते हैं, अपने बचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं; पर उसके भक्त बनकर हम अपने शारीरिक बल को उसका शारीरिक बल बनाएँगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई बनाएँगे, अपनी वाग्मिता को उसकी वाग्मिता बनाएँगे, अपनी तत्परता को उसकी तत्परता बनाएँगे; यहाँ तक कि जो कुछ हममें होगा उसे हम उसका कर डालेंगे और इस प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व या प्रभाव को बढ़ाएँगे और उसके थोड़े-बहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनूमान् अन्य राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

श्रद्धालु महत्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है। अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी होकर ही संसार के बड़े-बड़े महात्मा समाज के कल्याण-साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोविंदसिंह को यदि केवल दण्डवत् करनेवाले और गद्दी पर भेंट चढ़ानेवाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन-रात साथ रहनेवाले—अपने सारे जीवन को अर्पित करनेवाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय-दमन में कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का सङ्कोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को

ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर-दूर भागा फिरेगा। 'हमीं-हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं-तुम' की क्या बात है? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए भक्त ढूँढ़ने निकलते हैं। भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे, तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए—अनेक रूपों में परिचय के लिए—उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए उस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रिया-कलाप को अपने पूज्य प्रेम-पात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। जन-साधारण के लिए इस प्रकार के आश्रय द्वारा महत्त्व की प्राप्ति सुगम होती है। जो उच्च पथ पहले कष्टकर और श्रम-साध्य जान पड़ता है वही भक्ति के बल से मनोहर लगने लगता है।

व्यक्ति-सम्बन्ध-हीन सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरञ्जनकारी तभी लगते हैं, जब किसी व्यक्ति के जीवन-क्रम के रूप में देखे जाते हैं। शील की विभूतियाँ अनन्त रूपों में दिखाई पड़ती हैं। मनुष्य-जाति ने जब से होश संभाला, तब से वह इन अनन्त रूपों को महात्माओं के आचरणों तथा आख्यानों और चरित्र-सम्बन्धी पुस्तकों में देखती चली आ रही है। जब इन रूपों पर मनुष्य मोहित होता है, तब सात्त्विक शील की ओर आप से आप आकर्षित होता है। शून्य सिद्धान्त-वाक्यों में कोई आकर्षण-शक्ति या प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नहीं होती। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरे की भलाई करो', 'क्षमा करना सीखो'—ऐसे-ऐसे सिद्धान्त-वाक्य किसी को बार-बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है जैसा किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बातें करता चला जाय उससे चट कहना चाहिए—'बस चुप रहो, तुम्हें बोलने की तमीज़ नहीं, तुम बच्चों या कोल-भीलों के पास जाओ। ये बातें हम पहले से जानते हैं। मानव-जीवन के बीच हम इनके सौन्दर्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नहीं तो चुपचाप अपना रास्ता लो।' गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभवात्मक मन को आकर्षित करनेवाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनु-

भूति के विषय हैं। अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी। अतः सिद्धान्त-पथों के सम्बन्ध में जो आनंदानुभव करने की बातें हैं—जो अच्छी लगने की बातें हैं, वे पथिकों में तथा उनके चारों ओर पाई जायँगी। सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में हैं—या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सत्त्वोन्मुख प्राणियों के लिये ऐसे पथिकों के सामीप्य-लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ-साथ लगा रहना नहीं है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य ही के विधान हैं। बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण-द्वारा हम अपने आराध्य को—उसके कर्म-क्षेत्र को अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब हम इष्ट के कर्म-क्षेत्र को सामने लाते हैं तब उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं। हाँ, अवश्य आते हैं। इनके द्वारा हमारे इष्ट के स्वरूप का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है—इनके बीच उनका (इष्ट का) रंग और खुल पड़ता है। यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिए प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं, दूसरे में निवृत्ति का। जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता है। दुराचारी भी यदि अपने दुराचार का फल संसार के सामने पूर्ण रूप से भोग लेता है तो समाज के लिए उपयोगी ठहर जाता है। राम के हाथ से मारे जाने से रावण का जीवन भी सार्थक हो गया। यदि पापी अपने पाप का फल एकांत में या अपनी आत्मा ही में भोगकर चला जाता है तो वह अपने जीवन की सामाजिक उपयोगिता की एकमात्र संभावना को भी नष्ट कर देता है। इसी से बहुत से प्रायश्चित्तों के विधान में किए हुए पापों का सब के समक्ष कथन आवश्यक होता है।

पाप का फल छिपानेवाला पाप छिपानेवाले से अधिक अपराधी है। पर ऐसे बहुत-से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर मारे मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाए न मिटती। जिस समाज में सुख और वैभव के रंग में रँगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमें रक्षा करनेवाली

आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति, भारत !
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम् ॥

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किए जाने-वाले अत्याचर और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किए हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या-क्या हैं। मनुष्य विश्व-विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है। उसके धर्म, अधर्म, दया, निष्ठुरता आदि के भाव विश्व के उतने ही अंश से सम्बन्ध रखते हैं जितने के भीतर उसे कार्य करना है। यह कार्य और कुछ नहीं, अपनी समष्टि-स्थिति और सुख-सन्तोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्यक्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामञ्जस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान-बूझकर क्यों न किया जाय, यह नहीं सोचता कि मनुष्य-जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की और कोई भूमि उसे दिखाई नहीं पड़ रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने अन्तःकरण का एक अङ्ग ही खण्डित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी भी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य-जीवन को देव-तुल्य बनाने में थी; अब मर्कट-तुल्य और मत्स्य-तुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जानेवाली है। जब हृदय की कुछ उदात्त वृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं तब और प्राणियों की अपेक्षा अपने अन्तःकरण की पूर्णता का गर्व मनुष्य-जाति कब तक कर सकती है? उसके मार्मिक अङ्ग की व्यापकता के ह्रास और स्तब्धता की वृद्धि के भयङ्कर परिणाम का आभास योरप दे रहा है। अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं—सब का उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से

किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखों में डालेगा।

मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है—उस सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है—विश्व-विधान जिसकी नित्य-क्रिया है; अतःस्थिति-रक्षा-विधान की जो-जो बातें अपने में हैं उनका अभाव उससे अंशी या सर्व में मानते नहीं बनता है। दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे? अतः ज्ञान-क्षेत्र में ईश्वर की खोज हम उतने ही घेरे में करेंगे जितने में इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुँचती है, और कर्म-क्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करेंगे जितने की हमारे मन में जगह है। हम हैं, हम समझते हैं कि हम हैं और हम चाहते हैं कि हम रहें; ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति-रक्षा-सम्बन्धी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही उस परमभावमय की भावना करेंगे। हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप में उसका व्यवहार मनुष्य-जाति में दिखाई पड़ता है—जिस रूप में मनुष्य जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से सम्पन्न होकर उसके धन्यवाद के लिए हाथ उठाता है, भक्ति से पूर्ण होकर उसके आश्रय की वांछा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्यों के साथ भी करता है।

अपने व्यवहार-पथ में आश्रय-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है। स्वानुभूति ही द्वारा वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यैकमानाय' कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय? कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं जिसमें समष्टिस्थिति की रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का सञ्चार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि-रक्षा या धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्म-भाव है

वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जिन भावों का विकास नहीं हुआ है उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

भक्ति का स्थान मानव हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं को परमात्मा में अत्यन्त विशद रूप में देखकर ही उसका मन खिंचता है और वह उस विशद-रूप-विशिष्ट का सामीप्य चाहता है। उसके हृदय में जो सौन्दर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है उसे वह अत्यन्त पूर्णरूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्गद हो जाता है और उसका धर्म-पथ आनन्द से जगमगा उठता है। धर्म-क्षेत्र या व्यवहार-पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिंदू के हृदय की सारी शुभ और आनन्द-मयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उसके प्रेम, श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलम्ब मिल जाता है, उसके सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य और बल का सञ्चार हो जाता है। उनके सामीप्य का आनन्द लेने के लिए कभी वह उनके अलौकिक रूप-सौन्दर्य की भावना करता है, कभी उनकी बाल-लीला के चिन्तन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म-बलपूर्ण उनके निर्मल चरित्र का गान करता है, कभी सिर झुकाकर बन्दना भी करता है—यहाँ तक कि जब जी में आता है, प्रेम से भरी उलाहना भी देता है। यह हृदय-द्वारा अर्थात् आनन्द अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का सुगम मार्ग है। भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसा नाक से खाना और कान से सूँघना। हमारे यहाँ भक्ति-विधान के अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये नौ बातें ली गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नहीं है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता, पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।

रामलीला, कृष्णलीला आदि सामीप्य-सिद्धि ही के विधान हैं। इस सामीप्य की कामना भक्तवर रसखान ने बड़ी मार्मिकता से इस प्रकार प्रकट की है—

> **मानुष हौं तो वही 'रसखान'**
> **बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।**

जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं मिलि नन्द के धेनु मझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो किए हरि छत्र पुरंदर-धारन ।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कूल कलिंदी कदंब के डारन ॥

रामलीला द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्यदेव की आदर्श मानव-लीला का माधुर्य देखते हैं । जिस समय दूर-दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा-मुकुटधारी विजयी राम-लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं उस समय वे धर्म के सौन्दर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं । इसी प्रकार जब हम कृष्ण-लीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म-रक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारी जीवन-धारण की अभिलाषा दूनी—चौगुनी हो जाती है । हिंदू-जाति इन्हीं की भक्ति के बल से इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चली आई है—इन्हीं की अद्भुत आकर्षण-शक्ति से वह इधर उधर ढलने नहीं पाई है । राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिन्दू-जाति के लिये सहज नहीं था, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश देनेवाले नहीं थे, बल्कि मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक-एक अङ्ग की मनोहरता दिखानेवाले थे । मङ्गल के अवसरों पर उनके गीत गाए जाते हैं । विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, सम्पद की, विपद की जहाँ चर्चा होती है वहाँ इनका स्मरण किया जाता है ।

संसार से तटस्थ रहकर शान्ति-सुख-पूर्वक लोक-व्यवहार-सम्बन्धी उपदेश देनेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू-धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक विभूति की ज्योति जगानेवालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गये हैं । अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य संघटित करनेवाले ही अवतार कहे गये हैं । कर्म-सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है । जो कुछ हम करते हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना—उन सबमें

ौन्दर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से ास्ता दिखानेवाले नहीं हैं, आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने क्या ीचनेवाले हैं। जो उनके स्वरूप पर मोहित न हो वह निस्सन्देह जड़ है।

सुनि सीतापति सील सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।

जो उनका नाम सुनकर पुलकित होता है, जो उनके स्वरूप पर मोहित ोता है, उसके सुधरने की बहुत कुछ आशा हो सकती है। जो संसार या ानुष्यत्व का सर्वथा त्याग न कर दें, उनके लिए शुद्ध सात्विक जीवन का यही ार्ग है। रोगों के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में ानेवाली बात हैं। निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटनेवालों से लिप्त होकर ूसरों की भलाई करनेवाले लोक-कल्याण के विचार से कहीं अच्छे हैं।

जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म े इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। ात्र-धर्म ऐकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है। 'कोई ाजा होगा तो अपने घर का होगा' इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही ोई और मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। र्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र जीवन में जितने रूप में संभव है, उतने रूपों में ौर किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम े साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख-कातरता ताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक कार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं? इसी से क्षात्र-धर्म के सौन्दर्य में ो मधुर आकर्षण है, वह अधिक व्यापक, अधिक मर्म-स्पर्शी और अधिक स्पष्ट ै। मनुष्य की संपूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध रने की सामर्थ्य उसमें है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात ो भूलकर जो उपदेश दिये जाया करते हैं वे पाषण्ड के अन्तर्गत आते हैं। ृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग ोगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों र दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वाङ्गपूर्ण लोक-धर्म का मार्ग होगा। क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार-युग उसे नहीं हटा सकता। किसी

अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा !

मधुमती भूमिका

(श्री केशवप्रसाद मिश्र)

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक-संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपरप्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूर्खता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से सह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने पराए का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिए दुःख पाते हैं, क्योंकि "भूमा वै सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति"।

जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपरप्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर

अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका को स्पर्श करता है तब समस्त वस्तु-जात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार उसके लिये स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुन्दर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुप-निमन्त्रयन्ते भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते; वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरम-मरस्थानं देवानां प्रियमिति।

अर्थात्—मधुमती भूमिका का साक्षात् करते ही साधक की शुद्ध सात्त्वि-कता देखकर देवता अपने अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं—इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिये लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुन्दरी कन्या है, यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाशयान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मंदाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएँ, ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह व्रज-सा शरीर एक आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर, अमर स्थान में।

इसी दिव्य भूमिका में पहुँचकर क्रांतदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वी र्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्त-मुतोपसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिमधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (ऋ० १।६०।६)

योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है,

प्रातिभज्ञान[1]-संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः उस भूमिका तक हुआ करती है। साधक और कवि में अंतर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

बड़े ही गूढ़ अभिप्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्यं........द्रुतिकारणं' कहकर मधुमती के पुत्र माधुर्य को चित्तद्रुति का कारण बतलाया है। चित्त की द्रुति अथवा द्रवीभाव है क्या? चित्त स्वभावतः कठिन होता है। उसकी कठिनता इसी में है कि वह अपने को किसी भाव से आविष्ट नहीं होने देता, किसी भाव के संचार के लिए उसमें अवकाश नहीं मिलता। जब इस प्रकार की कठिनता चली जाय, जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति (तमतमाहट) मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटाकर रति आदि भावों के आकार में भासमान आंतरिक आनन्द-ज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष के हृदय की आर्द्रता होती है, जो अश्रु-प्रवाह या पुलकावली का संचार हो उठता है वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की ही अवस्था है। माधुर्य से इसका सम्बन्ध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों में नहीं।

संस्कृत साहित्य में मुझे ऐसे दो उदाहरण मिले हैं जहाँ अपरप्रत्यक्ष की अवस्था में भी रससंचार का वर्णन है। एक तो साक्षात् क्रौंचवध देखने से महर्षि वाल्मीकि के चित्त में लौकिक संकोचक शोक न उत्पन्न होकर उस अलौकिक विकासक शोक का उत्पन्न होना जिसके आवेश में उनका प्रातिभ ज्ञान जाग उठा और उन्होंने—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

---

[1] Benedetto Croce ने इसी प्रातिभ ज्ञान को Intuitive Knowledge कहा है। इसका वर्णन 'प्रातिभाद्वासर्वम्' ३।३३ तथा 'तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' ३।५४ इन पातंजल सूत्रों पर व्यास के भाष्य और विज्ञानभिक्षु के वार्तिक में देखना चाहिए।

इस छंदोमयी दैवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण कर डाला। इस वाग्ब्रह्म के प्रबोध का वर्णन कालिदास, भवभूति तथा आनन्दवर्धन ने "श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" आदि कहकर ऐसे ढंग से किया है कि वह शोक महर्षि के परप्रत्यक्ष का विषय ही जान पड़ता है। दूसरा सीता-परित्याग के पश्चात् पुनः पंचवटी में स्वयं गए हुए रामचंद्र में, संगमकालीन दृश्यों का अपरप्रत्यक्ष होने पर भी, लौकिक शोक न होकर उस करुण रस का संचार होना जिसका निर्देश भवभूति ने—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥

कहकर स्पष्ट ही कर दिया है।

इन उदाहरणों में भी परप्रत्यक्ष की अवस्था माननी चाहिए। महर्षि वाल्मीकि और भगवान् रामचन्द्र दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम सात्विक कहे जा सकते हैं उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकार से सदा ही मधुमती भूमिका में रमी रहती होगी। अतः उनका शोक आत्म-सम्बन्धी या पर-सम्बन्धी परिच्छिन्न शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्ति-सम्बन्ध-शून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप में परिणत हो सका।

कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बन्धुत्व के बन्धन से बँधा है। वही मेघदूत के पर्वतों को मधुमान् और नदियों को 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' के रूप में देख सकता है।

कविवर तानसेन

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

संगीतकार तानसेन के नाम से भारतवर्ष के सब लोग परिचित हैं। परन्तु तानसेन केवल एक युगावतार संगीत-रचयिता और गायक ही नहीं थे, वह एक उच्चश्रेणी के कवि थे, यह उनके रचित ध्रुपद गानों की वाणी या शब्दों से पूर्णतया प्रतीत होता है। विभिन्न राग-रागिनियों में उन्होंने जो गीत रचे हैं, वे उनकी अतुलनीय कवित्व-शक्ति के परिचायक हैं।

भारत के कलावंतों में प्रचलित संगीत-रीति ने ही इस देश की प्राचीन अर्थात् मुख्यतः मुसलमान-पूर्व युग की संगीत पद्धति की शैली की रक्षा की है। भारत के क्लासिकल अर्थात् उच्चकोटि के संगीत के रूप में स्वीकृत होकर, उसके सांस्कृतिक जीवन में इस कलावंत-संगीत ने ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। भारतवर्ष का कलावंत संगीत दो मुख्य विभाग या रूपों में मिलता है—एक हिन्दुस्तानी या उत्तर-भारतीय और दूसरी कर्णाटकी या दक्षिण-भारतीय। बीती हुई कई सदियों के इतिहास में उत्तर भारतीय ढंग के संगीत में तानसेन और दक्षिण भारतीय चाल के संगीत में त्यागराय (जो कि आन्ध्र या तेलगू भाषी थे और श्रीरामचन्द्रजी के भक्त थे और जिन्होंने ईस्वी सन् १८४७ में देह त्याग किया था)—इन दोनों के नाम सर्वप्रधान हैं। इन दोनों संगीत-पद्धतियों की जाति एक होते हुए भी हिन्दुस्तानी और कर्णाटकी संगीतों में कुछ पार्थक्य है। साधारणतया लोगों का विचार है कि कर्णाटकी संगीत ही शुद्धतर है क्योंकि इसमें भारत के बाहर से आये हुए विदेशी मुसलमान अर्थात् ईरानी और तुर्की उपादान प्रवेश नहीं कर सके; पर हिन्दुस्थानी संगीत में ईरान, तुर्किस्तान, ईराक तथा अरब-स्थान से आई हुई वस्तुएँ कुछ न कुछ मिल गई हैं और इससे इसकी विशुद्धि नष्ट हो गई है। परन्तु उत्तर भारत के ध्रुपद संगीत पर बाहर का प्रभाव उतना नहीं आने पाया, यह भी एक रूप से प्रायः सभी ने मान लिया है। प्राचीन हिन्दू संगीत का विशिष्ट रूप या ढङ्ग हमारे ध्रुपद में ही ज्यादातर अविकृत रहा है। तम्बूरा, पखावज और बीन की संगत से गाये हुए ध्रुपद के गीत से, हजार साल के या उससे भी अधिक पुराने काल के हिन्दू गाने का कुछ आभास हमें मिलता है। ख्याल, टप्पा, ठुमरी—ये सब तो बाद वाले युगों की सृष्टि हैं, जो मुसलमान बादशाहों के दरबारों में ध्रुपद ही के आधार पर बनाई

गई। इनमें भारत के विभिन्न प्रान्तों के तथा भारत के बाहर के देशों के सङ्गीत की कुछ विशिष्टताएँ आ गई हैं। केवल विशुद्ध ध्रुपद की सीधी, सबल और विराट् महिमा की तुलना भारतीय-संगीत में और कहीं नहीं मिलेगी और ऐसी चीज दूसरे देशों के संगीत में भी विरल हैं।

आजकल जो ध्रुपद हम सुनते हैं, उसकी जड़ हिन्दू-युग तक पहुँचती है, यह तो सच है। पर यह मुख्यतया ईस्वी पन्द्रहवीं से सतरहवीं शताब्दी की वस्तु है। भारतवर्ष की आर्यभाषा में तथा भारत के शिल्प में जिस प्रकार का विकास अथवा क्रम-विवर्तन हमें दीख पड़ता है, उसी प्रकार का विकास भारत के संगीत के इतिहास में भी अपेक्षित है, ऐसा सोचना अनुचित नहीं होगा। पहले आदि-आर्यभाषा या "संस्कृत" फिर उसके विचार से मध्य आर्य या "प्राकृत" उसके बाद, प्राकृत के परिवर्तन से नव्य आर्य या "भाषा"—इस क्रम के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की परिणति हुई हैं। शिल्प के इतिहास में हम इस प्रकार देखते हैं। बुद्ध के पूर्वकाल के लुप्त भारतीय मिश्र आर्यानार्य शिल्प में प्राचीन भारत के शिल्प की प्रतिष्ठा या स्थापना हुई थी। उस शिल्प ने, मौर्य तथा सुंग युग के भास्कर्य-शिल्प में, विशिष्ट भारतीय या हिन्दू-शिल्प के रूप में, ईसा के पूर्व कई सदियों में आत्मप्रकाश किया था। तदनंतर, कुषाण और आंध्र युगों के शिल्प के माध्यम से इस प्राचीन-हिन्दू-शिल्प की धारा प्रवाहित एवं पुष्ट हुई थी और गुप्त सम्राटों के काल के और उनके समय के पीछे की कई सदियों के प्रौढ़ हिन्दू-शिल्प में इसको चरम उन्नति हुई थी। उसके बाद, परवर्ती युगों के जटिलतामय रूपों में हिन्दू-शिल्प का आंशिक अवनमन हुआ था। संगीत के संबंध में भी ऐसा क्रम या ऐसी धारा हम अनुमान कर सकते हैं। परन्तु शुद्ध हिन्दू संगीत की इस धारा की अवस्था से, जो कि आज के ध्रुपद में पाई जाती है, प्राचीनतर किसी अवस्था का कोई निदर्शन संरक्षित नहीं हुआ। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में यदि प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश से प्राचीनतर प्राकृत और संस्कृत आदि और कोई निदर्शन नहीं मिलते तो भारतीय संगीत के इतिहास से उसकी समता दिखाई देती। ध्रुपद को निम्न-मध्य-युग के हिन्दू-शिल्प के साथ हम संतुलित कर सकते हैं; किन्तु ध्रुपद का पूर्व रूप, जिसे हम ऊर्ध्व-मध्य गुप्त और कुषाण युगों के शिल्प के साथ बराबरी रखनेवाला समझ सकते हैं, विलुप्त हो गया है।

जो कुछ हो, शंकरानंद सरवरिया, रघुनन्दन व्यास, गोपाल नायक, अमीर खुसरो, विवेक स्वामी, सदानन्द व्यास, सूरदास, रामदास स्वामी, बैज

बावरा, मुहम्मद गौस, हरिदास स्वामी, तानसेन, सदारङ्ग, शोरी मियाँ इत्यादि संगीतकार और गायको के हम चिर-कृतज्ञ रहेंगे। क्योंकि प्राचोन भारतोय-संगीत के संरक्षण तथा इसके युगानुसारी विवर्तन में इन्होंने बहुत कुछ किया था। बहुत-सी नई-नई वस्तुएँ भी इनके द्वारा आई हैं। कहते हैं कि ख्याल अमीर खुसरो का सर्जन है। स्वयं तानसेन ने भी कुछ प्राचीन रङ्गों के नये रूप दिये हैं, जैसे मल्हार राग का एक नया रूप उनके नाम के अनुसार 'मियाँ-की-मल्हार'' नाम से परिचित है, और "दरबारी कानड़ा" नाम का नया राग उन्हीं की सृष्टि है। परन्तु ज्यादातर ये संरक्षक ही थे। यदि इनमें प्राचीन-संगीत पर गंभीर अनुराग और प्राचीन रीति को विशुद्ध और अविकृत रखने का प्रयास न रहता तो हमारे प्राचीन हिन्दू युग का या मध्ययुग का संगीत जहाँ तक रक्षित हुआ है, न हो सकता।

इस प्रसंग में यह बताया जा सकता है कि ध्रुपद संगीत प्राचीन का केवल अविमिश्र रूप से संरक्षण या अंध अनुकरण मात्र न था। ऐसा अगर होता तो ध्रुपद इतने दिनो तक इस प्रकार जीवित न रह सकता। अब तक ऐसे बहुत लोग हैं जो कि ध्रुपद से आनन्द उठाते हैं और ये लोग सब के सब केवल पेशेवर उस्ताद या शिक्षित कलावंत नहीं होते हैं; इनमें बहुत से मामूली संगीत रसिक भी होते हैं। आम तौर पर जनता में "कलावंत गाना" आजकल इतनी दिलचस्पी नहीं ला सकता। यह तो सच है पर इसकी चर्चा और इसकी उपयुक्त मर्यादा शिक्षित समाज में घटती तो है नहीं (हम बङ्गाल की बात कह रहे हैं)। ध्रुपद संगीत में अभी नया सर्जन हो सकता है, होता भी है, उसके उदाहरण-स्वरूप कुछ साल पूर्व बङ्गाल के विष्णुपुर के विख्यात सङ्गीतकार घराने के गायक सङ्गीतरत्नाकर श्री सुरेन्द्र जी वंद्योपाध्याय ने महात्मा गांधी जी के किसी उपवास के उपलक्ष में "राग गांधी" नाम से जो एक बड़ा सुन्दर सुर बनाया था, उसका उल्लेख किया जा सकता है। यह "राग गाँधी" और उसकी आनुषंगिक ब्रजभाषा में लिखित वाणी सन् १९३२ के दिसम्बर के "विशालभारत" में छप चुकी है। ऐसी नई रचना के द्वारा और कुछ न हो, सिर्फ इतना तो सिद्ध होता है कि ध्रुपद सङ्गीत एक दम मर नहीं गया। मृत या अप्रचलित कहकर ध्रुपद के आदर या ध्रुपद की चर्चा को मिटा देना—मृत भाषा कहकर संस्कृत पाली प्राकृत या ग्रीक लेटिन का अनादर करना या इनकी चर्चा को एकदम बन्द करना इन्हें सीमित कर देना होगा।

सौभाग्य से सम्राट् अकबर से तानसेन का संयोग हुआ था, इस

कारण तानसेन की जीवनी या इनके कलाकार जीवन की दो-चार बातों के सम्बंध में हमें कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। अकबर और जहाँगीर के समय की चित्रावलियों में तानसेन की प्रतिकृति भी खींची गई थी। जहाँगीर के समय में बने हुए तानसेन के चित्र मिलते हैं। ऐसे एक चित्र पर तानसेन की मूर्ति के बगल में फारसी अक्षरों में उनका नाम भी लिख दिया गया है। तानसेन क़द में छोटे थे। रंग उनका गोरा नहीं था, बिल्कुल काला या सावँला था; होंठ पर पतली मूछें भी थीं और एक दूसरे चित्र में तख्त पर बैठे हुए जहाँगोर के सामने तानसेन खड़े हैं। जिस समय जहाँगीर युवराज थे यह उसी समय का चित्र मालूम होता है। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में तानसेन के गुणों की तारीफ की है। तीसरे चित्र में जहाँगीर के दरबार में गवैयों और बजानेवालों के बीच में खड़े हुए तानसेन मिजराब से सरोद-सा एक यंत्र बजा कर गा रहे हैं। गाने और बजाने में और कई गवैये इनके साथी हैं। इन चित्रों के अलावा खास मुगल शैली का और भी एक चित्र है, जिसमें अकबर और तानसेन के जीवन की एक घटना दिखाई गई है। संगीत में तानसेन के गुरुओं में एक हरिदास स्वामी थे। आप एक संसारत्यागी संन्यासी थे और बृन्दावन में रहकर संगीत के द्वारा अपना साधन-भजन करते थे। हरिदास स्वामी की प्रशंसा सुनकर उनका गाना सुनने के लिये अकबर बड़े ही उत्सुक हुए, परंतु हरिदास स्वामी ने राजधानी में आना नहीं पसन्द किया। तब स्वयं अकबर तानसेन के साथ हरिदास स्वामी के आश्रम पर गए। आश्रम में उपस्थित शाहनशाह के सामने भी हरिदास स्वामी ने गाना अस्वीकार कर दिया। आखिरकार तानसेन ने स्वयं अपने गुरुजी के समक्ष गाना शुरू किया और जानबूझ कर गलत गाया। इससे चेले को दुरुस्त कर देने के ख्याल से हरिदास स्वामी स्वयं गाने लगे। फिर तो उनका गाना चल पड़ा। कहते हैं, हरिदास ऐसे सिद्ध गायक का गाना सुनकर अकबर भावावेश से ऐसे अभिभूत हुए कि कुछ काल के लिए बेहोश हो गये। होश में आकर उन्होंने तानसेन से पूछा—'क्यों तानसेन अपने गुरु की तरह नहीं गा सकते ?' तानसेन ने जवाब दिया—'महाराज, मैं गाता हूँ तो एक पार्थिव सम्राट् की सभा में। पर मेरे गुरु गाते हैं परमेश्वर के दरबार में।' यह सुन्दर कहानी एक मुग़ल चित्रपट पर चित्रित हुई है। लम्बे कद के गोरे पतले हरिदास स्वामी अपनी कुटया के सामने मृगचर्म पर बैठे तम्बूरा लेकर गा रहे हैं, कुटिया के दरवाजे के बाजू केले और दूसरे पेड़ों के हरे पत्तों से शीतल छाया वाले दिखाई देते हैं। दुबले-पतले काले रंग के तानसेन जमीन पर बैठे हैं और

बादशाह अकबर खड़े होकर गाना सुन रहे हैं। कुछ दूर पर बादशाह के तम्बू के कनात और ऊँट आदि की सवारी दिखाई पड़ती है, और इससे भी दूर पर दीवार से घेरे हुए एक नगर का दृश्य दिया गया है।

तानसेन की ये तस्वीरें हमें प्राप्त हैं। तानसेन के विषय में कुछ कहानियाँ भी मिली हैं, परन्तु उनकी सच्ची जीवन-कथा हमें आज तक उपलब्ध नहीं हुई। उनके जीवन की बहुत-सी मुख्य बातें बहुत रहस्यपूर्ण रह गई हैं। अकबर के सभापंडित और दरबारी ऐतिहासिक अबुलफजल ने अपनी आईन-इ-अकबरी में अकबर के वेतनभोगी छत्तीस दरबारी गवैयों में और यंत्रियों के नाम दिये हैं, उनमें तानसेन का नाम सब से पहिला है और तानसेन के बारे में अबुलफज़ल ने ऐसा लिखा भी है कि विगत सहस्र वर्षों में उनके समान कोई भी गायक भारतवर्ष में नहीं हुआ। १९३४ वि० सं० (१८७७–१८७८ इस्वी) में राजा शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंह-सरोज" नाम से हिन्दी कवियों की जीवनी के साथ एक कविता संग्रह ग्रंथ प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने तानसेन के जीवन की कुछ घटनाएँ लिपिबद्ध की थीं। १८८९ सन् में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने "न्यू माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" नामक जो उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें तानसेन की जीवन-कथा 'शिवसिंह-सरोज' से उद्धृत की थी। शिवसिंह के अनुसार सम्वत् १५८८ (ईस्वी १५३१-१५३२) में तानसेन का जन्म हुआ था। शिवसिंह ने कुछ प्रमाण नहीं दिया। उनके द्वारा प्रस्तावित यह तारीख सम्भवतः ठीक नहीं है, क्योंकि इस तारीख को मानने से तानसेन के जीवन की कुछ विदित घटनाओं में असङ्गति दिखाई देती है। ऐसा हो सकता है कि उनका जन्म लगभग १५२० ईस्वी में हुआ हो। अकबर के दरबार में लिखे हुए फारसी इतिहास के अनुसार उनका मृत्युकाल था ९९७ हिजरी, अर्थात् १५८९ ईस्वी सन्। तानसेन की मृत्यु अकबर की मृत्यु से पहले ही हुई थी। खुद अकबर के नाम से प्रचलित एक दोहे में इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि बीरबल के देहान्त के बाद अपने गम्भीर खेद को अकबर ने इस दोहे में प्रकाशित किया था—

पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
हँसिबौ रमिबौ बोलिबौ, गयौ बीरबल साथ॥

इस दोहे के "पीथल" थे बीकानेर से कुमार पृथ्वीराज राठौर, जो डिंगल या पुरानी राजस्थानी के विख्यात कवि थे। अकबर के दरबार में बीकानेर की तरफ से कफील या शरीर-बंधक बनकर रहा करते थे और इन्होंने ही चित्तौड़

के महाराना प्रतापसिंह को अपना विख्यात पद्यमय पत्र लिखकर अकबर की अधीनता स्वीकार न करने की राय दी थी। जहाँगीर की राज्य-प्राप्ति के बाद उनके दरबार में शामिल रहना, जो एक मुग़ल चित्र से दृष्टिगोचर होता है, संभवतः इन प्रमाणों के सामने, चित्रकार-कल्पना माननी पड़ेगी।

कहते हैं कि तानसेन के पिता का नाम था मकरन्द पांडे। आप गौड़ ब्राह्मण थे। तानसेन ने बृन्दावन के हरिदास स्वामी के पास पहले कविता-रचना और सङ्गीत विद्या सिखी थी। फिर वे ग्वालियर के सूफी साधु मुहम्मद गौस के शागिर्द बने। मुहम्मद गौस एक विख्यात गायक भी थे। आप बाबर, हुमायूँ और अकबर के समकालीन थे, और लोग आप पर बड़ी ही श्रद्धा करते थे। जिस समय ग्वालियर हिन्दुओं के अधिकार में था और तोमर-वंश के राजपूत राजा वहाँ शासक थे, तब से मुहम्मद गौस ग्वालियर में निवास करते थे। इन सूफी साधक ही की सलाह से बाबर के सेनापति रहीम-दाद मुग़लों की तरफ से ग्वालियर को अपने कब्जे में ला सके। ऐसा सुनते हैं कि मुहम्मद गौस ने चेले तानसेन को गायन शक्ति देने के लिए अपनी जीभ से तानसेन की जीभ छुई थी और इसी करामात से तानसेन को असाधारण सङ्गीत शक्ति प्राप्त हुई थी। १५६२ सन् में तानसेन अकबर के दरबार में आये, उसके बाद वे मुसलमान हो गये। तानसेन के इस्लाम कबूल करने का इतिहास रहस्यमय रहा है। अकबर की प्ररोचना से मुसलमान बनना सम्भव नहीं था, क्योंकि अकबर इस्लाम के सम्बन्ध में सदा के लिए उदासीन थे और अपने अंतिम जीवन में उन्होंने इस्लाम को तो त्याग ही दिया था। तानसेन की रची हुई गीतों के भाव और उनकी भाषा देखकर ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती कि वे भक्तप्राण हिन्दू के सिवा कुछ और थे। मुसलमानी भाव के कुछ गाने, जो कि तानसेन के नाम से संयुक्त हैं—उनमें खास करके इस्लाम पर विशेष आग्रह का कोई भी परिचय नहीं मिलता। तो क्या उस्ताद मुहम्मद गौस से प्रभावित होकर तानसेन अपने को मुसलमान तो नहीं कहने लगे थे? ऐसा अनुमित होता है कि मुहम्मद गौस हिन्दुओं के भी बहुत प्रिय हो गये थे। शरीफ और भद्र हिन्दू का सम्मान आप किया करते थे, इसलिए कुछ कट्टर मुसलमान उन पर नाराज़ होते थे यही इस बात का प्रमाण है। भारत में मुसलमान धर्म के फैलाने में मुसलमान पीर और फकीरों ने बहुत मदद दी थी, कार्रवाइयाँ की थीं, यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। सूफी ढङ्ग के इस्लाम ने प्रत्यक्ष और परोक्ष-भाव से, ज्यादातर परोक्ष भाव से, हिन्दुओं में इस्लाम प्रचार के काम में सहायता दी

थी। फिर यह भी हो सकता है कि अपनी जवानी में तानसेन मुसलमान रईस और राजघरानों के साथ घनिष्ठ रूप से बर्ताव करते थे, इसलिए ब्राह्मण की आचारशीलता से भ्रष्ट हो गये होंगे, और इसी कारण उन्होंने अपनी बिरादरी से अलग रहना भी उचित समझा होगा। कुछ काल के लिए बादशाह शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ के विशिष्ट मित्र बनकर तानसेन ने आगरे के दरबार में निवास किया था। इन सब बातों के अलावा यह भी सम्भव है कि मुगलों की ग्वालियर-विजय के बाद तानसेन की बिरादरी के गवैये ब्राह्मण लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये हों। जाति की जाति को या बिरादरी की बिरादरी को बलात्कार से अपने धर्म से छुड़ाकर मुसलमानी की ओर खींच लेना, भारत के मुसलमान-विजय के इतिहास में कुछ नई बात नहीं थी। भारत के कुछ सुप्रतिष्ठित कलाकार जाति के लोग मुसलमान-विजय के साथ ही साथ मुसलमान बनाये गये। जैसे कपड़ा बनानेवाले तंतुवाय जाति के लोग, जो मुसलमान होने के बाद 'जुलाहे' कहलाये। बङ्गाल के चित्रकार जाति के लोग, तमाम उत्तर भारत के ठठेरे, कुम्हार, रङ्गरेज़, धुनिये, पत्थर के काम करनेवाले, इत्यादि। तानसेन के इस्लाम-ग्रहण करने के बारे में और एक बात सोचने की है। अबुलफज़ल की आईन-इ-अकबरी में जो छत्तीस गवैयों के नाम दिये गये हैं, उनमें पन्द्रह ग्वालियर के हैं, और ग्वालियर के ये उस्ताद गवैये या कलावंत अधिकतया हिन्दू-नामवाले मुसलमान हैं; जैसे खुद "मियाँ तानसेन", और उनके पुत्र "तानतरङ्ग खाँ"; और "श्रीज्ञान खाँ", "मियाँ चाँद", "विचित्र खाँ" उनके भाई का नाम पूरी तौर से इसलामी था—"सुभान खाँ", "वीरमण्डलो खाँ", "प्रवीण खाँ", "चाँदखाँ"। इससे हमें सन्देह होता है कि ग्वालियर-निवासी बहुत से ब्राह्मण—शायद तानसेन के गवैये घराने के—किसी सूरत से मुसलमान बन गये होंगे या जबरदस्ती बनाये गये होंगे, या किसी कारण अपनी ही ओर से मुसलमान-सम्प्रदाय में शामिल होना इनके लिये सहल हुआ होगा। और एक कारण भी सुना जाता है कि तानसेन ने किसी मुसलमान लड़की से प्रेम के कारण अपने धर्म को त्याग दिया था। एक असम्भव-सी कहानी है। अकबर ने तानसेन को अपने दरबार में रखना चाहा, मगर अपने घमण्ड में उस्ताद कलाकार ने इनकार कर दिया; आखिर अकबर ने अपनी एक कन्या से तानसेन का ब्याह कर उन्हें प्रसन्न किया और तब से वे अकबर के दरबार को अलंकृत करने लगे, और शाही दामाद बनने के कारण मजबूर होकर उन्हें मुसलमानी माननी पड़ी। प्रेम के कारण तानसेन ने धर्मान्तर ग्रहण किया, यह इस कहानी के अनुसार

कोई असम्भव बात नहीं है पर इसका और कोई भी प्रमाण नहीं है। जो हो, मुहम्मद गौस का प्रभाव तानसेन के ऊपर विशेष हुआ था, ऐसा सम्भव मालूम पड़ता है। तानसेन की मृत्यु के बाद उनका देह ग्वालियर के विराट् पर्वत-दुर्ग के पादमूल पर मुहम्मद गौस के समाधि-मंदिर के बगल में खुले आँगन में समाहित हुआ। तानसेन की पत्थर की यह समाधि अब उत्तर-भारत के कलावंत गवैयों के लिए एक तीर्थ-स्थान बन गई है; इस मज़ार में तानसेन की वफ़ात के दिन बड़ा भारी जलसा होता है। संगीतनायक तानसेन की समाधि के पास इमली के पेड़ हैं, गवैयों में बड़े प्रेम के साथ इन पेड़ों के पत्ते चबाने की प्रथा चली आई है। इससे सङ्गीत गुरु के आशीर्वाद से आवाज़ मीठी होती है—ऐसा विश्वास लोगों में है।

अपने नवयौवन के पृष्ठपोषक शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ की मृत्यु के बाद तानसेन ने मध्यभारत के रीवाँ राज्य के बांधव के राजा रामचाँद बघेले के आश्रय में बहुत वर्ष बिताये। तानसेन के बहुतेरे ध्रुपद गानों में "राजा राम" इस नाम से इनका यशोगान किया गया है। इन्होंने तानसेन का बहुत सम्मान किया था, द्रव्य भी बहुत दिया था। इतने में ही तानसेन की ख्याति चारों ओर फैली, और सूर-वंश के बादशाह ने आगरे में अपने दरबार में उन्हें बुला भेजा पर तानसेन रीवाँ छोड़कर नहीं आये। थोड़े दिनों के बाद मुग़ल बादशाह हुमायूँ ने आकर पठान शेरशाह के वंशधरों को हराकर उस राजवंश को ही विनष्ट कर दिया, और १५५६ सन् में फिर मुग़ल राज की प्रतिष्ठा की। पिता हुमायूँ के देहान्त के बाद अकबर अपने सिंहासन पर कायम हुए, और सन् १५६२ में जलालुद्दीन कुरची नामक एक मनसबदार को भेजकर रीवाँ से तानसेन को अपने दरबार में बुला लिया। इस बार तानसेन की आपत्ति नहीं मानी गई। तानसेन का बाकी जीवन अकबर के दरबार ही में बीता। किसी समय अपने को मुसलमान-धर्मावलम्बी स्वीकार करने के सिवा इसके बाद इनके जीवन में उल्लेख योग्य और किसी घटना का पता नहीं चलता।

तानसेन तो गाने में अद्वितीय थे ही, कलावंत और संगीतकारों में भी तानसेन सम्राट् माने जाते हैं, पर कवि कहिये, तो तानसेन कवित्व शक्ति में भी कुछ कम नहीं थे। जिस समय तानसेन जीवित थे, वह प्राचीन हिन्दी-साहित्य का सब से गौरवमय-युग था—खास करके हिन्दी काव्य-साहित्य का। उनके समसामयिकों में थे मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास, उनसे एक पीढ़ी पहले के थे, अन्ध कवि सूरदास। अकबर के दरबार में एक तरफ थी, राजकीय भाषा

फारसी—इसे मुगल या मुसलमानी राज की "पोशाकी" या बाहरी भाषा हम कहते हैं; और दूसरी तरफ थी, देशभाषा, राज की भीतरी भाषा, "हिन्दी"। उस हिन्दी के उस समय तीन सुप्रतिष्ठित साहित्यिक-रूप थे। पूरब में अवधी या कोसली, बीच में ब्रजभाषा और राजस्थान में डिंगल। दिल्ली की खड़ीबोली की कोई साहित्यिक प्रतिष्ठा अब तक नहीं हुई थी, पर खड़ीबोली से पंजाबी की मेलजोल बहुत थी। यह दिल्ली में और दिल्ली के आसपास मेरठ, रोहिलखंड, हरियाना, कर्नाल, अम्बाला प्रान्त में जनपद बोली के रूप में बोली जाती थी। कबीर जैसे संत और साधुओं के हाथ बनने वाले समग्र उत्तरभारत के नये लोक-साहित्य में इस खड़ीबोली के रूप कुछ-कुछ दिखाई देते थे। अकबर की दो राजधानी आगरा और दिल्ली—खास करके आगरा—ब्रजभाषा के इलाके में शामिल थी, इस कारण उनकी सभा में ब्रजभाषा-हिन्दी ही को पूरा स्थान मिला था। इसमें खुद बादशाह से शुरू कर सब काव्यरसिक दरबारी सज्जन कविता करते थे। अकबर और अकबर के बाद मुगलों की कई पीढ़ियों तक—ईस्वी अठारहवीं शती के द्वितीयार्ध तक—भारत के मुसलमान सम्राटों के लिए भारतीय भाषाओं में सिर्फ ब्रजभाषा ही घरेलू भाषा थी। जैसे इंगलैंड के नारमन-फ्रेंच बोलनेवाले राजघरानों की देशभाषा अंग्रेजी को अपनाने के साथ ही साथ, अंग्रेजी के लिए एक नया विरुद व्यवहृत होने लगा, अंग्रेजी केवल नारमनों से विजित अंग्रेज प्रजा की भाषा न रही, वरन् यह शाही जबान 'द किंग इंग्लिश' बन गई, वैसे ही ब्रजभाषा-हिन्दी लगभग १०५० ईस्वी से कम-से-कम १५५० ईस्वी तक "बादशाही हिन्दी" के रूप में व्यवहृत होती रही। बादशाह अकबर स्वयं ब्रजभाषा में पद रचते थे; इनका नाम "अकबर" या "अकब्बर सगाई" रूप में कुछ हिन्दी या ब्रजभाषा के पदों में मिला है और ऐसे पद (दोहा, कवित्त) भी हैं जो अकबर के लिखे हुए माने जाते हैं। अकबर के सभासदों में राजा बीरबल, मिर्जा अब्दुर्रहीम खान-खाना और बीकानेर के राजकुमार पृथ्वीराज राठौड़ हिन्दी (ब्रजभाषा और राजस्थानी) साहित्य के उच्चकोटि के कवि गिने जाते हैं।

गायक के रूप में अतुलनीय यश के अधिकारी होने के कारण, कवि के रूप में तानसेन का यशोभाग्य जितना होने चाहिये था, उतना नहीं हुआ। संगीतज्ञ कलावंत तानसेन के अन्तराल में जैसे कवि और साधक तानसेन ढक गये हों। ऐसा होने का एक मुख्य कारण यह था कि तानसेन केवल कवि न थे—कविता की रचना इनका एक मात्र काम न था। दरबार, मजलिस या सभा

में सुर लय के साथ पाठकर सभासदों की तारीफ या रसिकों के साधुवाद और राजा बादशाह प्रभृति भाग्यवानों से आर्थिक पृष्ठपोषकता प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े काव्य या छोटी-छोटी कविताओं की रचना करना तानसेन का पेशा न था। "लिरिक पोयेट" यानी गीति कविताकार और साथ-ही-साथ गवैये—इसके सिवा तानसेन और कुछ नहीं थे। वह स्वयं गीत की वाणी या शब्द लिखते थे, और सुर-बद्ध करके स्वयं गाते थे। श्रोताओं के समक्ष संगीतरस ही इन गीतों का प्रधान आकर्षण था। कवि और साहित्यिकों की मजलिसों से कलावंत गवैयों के जलसों में इन गीतों का प्रचलन अधिक था। पर ये गवैये ज्यादातर तो थे सुर और तान के वैयाकरण; फलतः काव्य-रस उनके सामने गौण वस्तु था। इससे जान पड़ता है कि काव्य-सरस्वती अरसिकों के हाथों में पड़कर दुर्दशापन्न हुई। जो सचमुच कवि थे, ऐसे सहृदय जनों के चित्त को तानसेन के गीतों के काव्य-सौन्दर्य से आकृष्ट होने का अवसर नहीं मिला। तानसेन के सदृश जो साथ-ही-साथ गायक और कवि थे, ऐसे बहुतेरे कवियों की दशा ऐसी ही हुई थी। तानसेन के समय के कवि और गायक बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास (ये अंध कवि सूरदास से अलग व्यक्ति थे) और उनके पूर्व के और पश्चात् काल के समस्त कवियों और गायकों के संबंध में यह बात ठीक है।

प्रधानतया कवि के रूप में ख्याति या स्वीकृति न होने के कारण, अपने कवित्व-सौन्दर्य के कारण तानसेन के गीतों का प्रचार बाहर जितना होना उचित था, उतना नहीं हो पाया। साहित्य-रसिक लोग और पुस्तक अनुलेखक या नक़ल-नवीस कबीर, सूरदास, तुलसी, बिहारीलाल, भूषण, मतिराम इत्यादि कवियों में उलझे रहे; इनके काव्यों की चर्चा में मस्त रहे। आध्यात्मिक-भाव के गीत बनाने से भी तानसेन को कोई धार्मिक मर्यादा न मिली; जैसे कबीर, नानक, दादू आदि को। गवैया-सम्प्रदाय के बाहर दूसरे लोगों ने इधर कुछ सोच-विचार न किया। बाहर के लोग सिर्फ गवैये या उस्ताद तानसेन को पहचानते थे; केवल गायक तानसेन का सम्मान करते थे। पेशेवर या व्यवसायी कलावंत लोगों ने भी अपने गुरु तानसेन के गानों को अपने सम्प्रदाय ही में सीमित रखा। इसमें इनका कोई भी अपराध नहीं था। जहाँ तक मुझे पता चला है काव्य के विचार से किसी ने कभी तानसेन के गीतों का संग्रह प्रकाशित नहीं किया, परंतु उत्तर-भारत के कलावंत संगीत की जिस किसी पुस्तक को देखिये तानसेन के दो-चार गाने अवश्य ही मिलेंगे।

तानसेन के अनुरागिओं के लिए यह तो एक अच्छी बात है कि फारसी,

हिन्दी, बंगला, मराठी भाषाओं के मध्ययुग के साहित्य के नियम के अनुसार अन्यान्य कवियों की भाँति तानसेन भी अपने गानों में अपना नाम जोड़ दिया करते थे। कवि के द्वारा अपनी रचना के अंत में अपना नाम देने की रीति को बंगला में "भणिता देना" कहा जाता है। ऐसी भणिताओं के सहारे तानसेन के गानों के संग्रह का श्रीगणेश किया जा सकता है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि बाज कवियों के गीतों में भ्रमवश तानसेन की "भणिता" या छाप आ गई हो, और तानसेन के अपने गीतों की भणिता के स्थान पर दूसरे कवि की भणिता आ बैठी हो। इन सब बातों का विचार कर, तानसेन के गानों की वाणी की एक संग्रह-पुस्तक निकालना हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के लिए एक महत्व-पूर्ण काम होगा। संग्रह मुख्यतया काव्य की दृष्टि से करना चाहिये। तानसेन द्वारा रचित छपे हुए पद यथेष्ट मिलेंगे, इनके आधार पर इस काम का प्रारंभ हो सकता है। सन् १८४३ ईस्वी में कलकत्ते में मुद्रित और वहीं से प्रकाशित कृष्णानन्द व्यासदेव के बृहत् संगीत-संग्रह-ग्रंथ "संगीतराग-कल्पद्रुम" में तानसेन की भणिता के अनेक पद मुद्रित हैं। इस महाग्रंथ का द्वितीय संस्करण सन् १९१४–१९१६ में मुर्शिदाबाद लालगोला के राजाबहादुर स्वर्गीय योगेन्द्र-नारायण के अर्थव्यय से बंगीय-साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १८८५ ईस्वी से कृष्णधन वन्द्योपाध्याय के रचित गीत सूत्र सार से शुरू कर बंगला, हिन्दी, मराठी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में संगीत के विषय में जितनी पुस्तकें निकली हैं प्रायः उन सबों में तानसेन के गाने दिये गए हैं। इसके अलावा जो "खानदानी" कलावंत होते हैं, पीढ़ी-दर पीढ़ी जो कलावंत की वृत्ति का पालन कर रहे हैं उनके कंठ में और उनके घर की दस्ती किताबों में तानसेन के अप्रकाशित गाने मिलेंगे। पश्चिम बंगाल के पुराने शहर विष्णुपुर के विख्यात खानदानी संगीतज्ञ, आधुनिक भारत के अन्यतम प्रमुख ध्रुपदी संगीत-नायक संगीताचार्य श्री गोपेश्वरजी वन्द्योपाध्याय हैं। तानसेन के वंशजों में से एक गवैया बहादुरसेन या बहादुर खाँ सन् १७१० में बंगाल के विष्णुपुर में आये थे, आप उन्हीं की शिष्य-परंपरा के अन्तर्गत हैं। इनके द्वारा लिखी हुई संगीत संबंधी बंगला पुस्तकों में तानसेन के गाने स्वरलिपि के साथ दिये गये हैं। इस प्रसंग में कई साल हुए कलकत्ते से प्रकाशित—इस समय दुष्प्राप्य—ध्रुपद भजनावली नाम की बंगला अक्षर में छपी हुई एक पुस्तक का उल्लेख होना चाहिये। उत्तर-बंगाल के रंगपुर के वकील बाबू रामलाल मैत्र ने अपने संगीत-शिक्षक बनारस से बंगाल में आये हुए शिवनारायण मिश्र से बहुत से ध्रुपद गान

सीखे थे। शिवनारायण मिश्र काशी के एक विख्यात ध्रुपदी नायक बख्त्यार सिंह के, जो कि तानसेन के घरानों के कहलाते थे, शिष्य थे। "अमृत बाज़ार पत्रिका" के अन्यतर संस्थापक स्वर्गवासी शिशिरकुमार जी घोष के आग्रह से रामलाल बाबू ने "ध्रुपद भजनावली" में शिवनारायण मिश्र से प्राप्त हुए ३७१ ध्रुपद गानों की वाणी प्रकाशित की थी, जिनमें १८० से अधिक तानसेन के हैं। बंगला लिपि में हिन्दी या ब्रजभाषा से अनभिज्ञ बंगाली नकलकार तथा मुद्रक के हाथों से मूलवाणी की जो दुर्दशा हुई है, वह अवर्णनीय है; तो भी यह पुस्तक तानसेन के सम्बन्ध में विशेष मूल्यवान् है।

प्राचीन काल के अन्यान्य मुख्य हिन्दी कविओं की भाँति तानसेन ने भी ब्रजभाषा का उपयोग किया था। ब्रजभाषा मुख्यतः ब्रजमंडल अर्थात् मथुरा के आस-पास के प्रान्तों की कथित भाषा या बोली है। बंगाल के वैष्णव पदों में बंगला और मैथिल के मिश्रण से "ब्रजबोली" नाम की जो कृत्रिम साहित्यिक भाषा मिलती है, वह मथुरा वृन्दाबन की ब्रजभाषा से बिलकुल दूसरी चीज़ है। ब्रजभाषा में एक लक्षणीय साहित्य है। यह भाषा बहुतेरे कवि और गद्य-लेखकों की कृति से भरपूर है। उत्तर-भारत की आधुनिक-नव्य-आर्यभाषाओं में, अपने श्रुति-माधुर्य तथा गांभीर्य के कारण ब्रजभाषा का सौन्दर्य और उसकी शक्ति अतुलनीय है। गीति कविता के लिए यह भाषा विशेषतया उपयोगी है। हम ऊपर कह चुके हैं कि तानसेन के समय में दिल्ली मेरठ की खड़ीबोली साहित्यिक-भाषा नहीं बनी थी। हिन्दुस्तान की भाषाओं में केवल ब्रज, कोसली और डिंगल भाषाएँ साहित्यिक मानी जाती थीं। तानसेन की ब्रजभाषा मध्ययुग की ब्रजभाषा है, उस समय भारत की आर्य बोलिओं में स्वरध्वनि की बहुलता थी; ब्रजभाषा भी इस स्वर-बहुलता के कारण (इसके सब शब्द स्वरांत होते थे) विशेषतया श्रुति-मधुर भाषा है। गानों के लिए तो इसका खास गुण है। गानों में जब लाई जाती है तब ब्रजभाषा के उच्चारण के कुछ विशेष ढङ्ग कहीं-कहीं आ जाते हैं। ये विशिष्ट ढङ्ग कम-से-कम गाने की कुछ शैली में सुन पड़ते हैं। एक विशेषता तो यही है कि अनुनासिक वर्णों के बाद उस अनुनासिक वर्ण के अपने वर्ग के स्पर्श वर्ण (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) आने से, इस अनुनासिक-संयुक्त वर्ण के पूर्व के अक्षर में अ-कार रहने से, वह अ-कार औ-कार-सा उच्चारित होता है। जैसे "पंकज, संख, गंग, अंघ्रि, पंच, अंजत, झंझ, कंठ, मंडल, अंत, पंथ, चंद, सुगंध, कंप, अंब, अंभ" इत्यादि शब्द "पौंकज, सौंख, गौंग, औंघ्रि, पौंच, औंजन, झौंझ, कौंठ, मौंडल, औंत, पौंथ, चौंद,

सुगौंध, कौंप, औंब, औंभ, सुन पड़ते हैं। गाने के समय इससे सानुनासिक संयुक्त वर्णों में कुछ विशेष श्रुति-माधुर्य आ जाता है। इसके बाद शब्दों के अंत में अ-कार रहने से वह अ-कार कभी-कभी अर्धोच्चारित उ-कार-सा हो जाता है।

तानसेन के पदों की तथा समकालीन दूसरे अनुरूप हिन्दी कवियों की भाषा का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य यह है—भाषा का संक्षेप या संकेतमय रूप में भाषा का प्रयोग। व्याकरण के अनुसार शब्द तथा धातुओं के साथ सुप् और तिङ् प्रत्यय जोड़कर वाक्य-स्थित "पद" बनाये जाते हैं; पर मध्य-युग की हिन्दी कविता में मानों प्रत्ययों का यथासंभव बहिष्कार किया जाता था। जहाँ अनुसर्ग और प्रत्यय न रहने से अर्थग्रहण होना कठिन होता है, सिर्फ वैसे ही स्थानों में इनका पूरा प्रयोग होता है, अन्यथा नहीं। नाम-पदों के प्रातिपदिक रूप और धातु का एक अकारान्त रूप—इन्हीं से जहाँ तक हो सके, काम लिया जाता है। वाक्यों में ये अधिकतया मिलते भी हैं। केवल एक के बाद दूसरे बिठाये गये मूल शब्द, या समस्त-पद; या धातु; ये सब पृथक् अवस्थित विभक्ति-प्रत्यय-बिरल शब्द भरकम होते हैं इनके द्वारा कुछ खास शक्ति का प्रकाश आ जाता है, भाषा में एक प्रकार की वाचंयमता के साथ जमावट आती है। तानसेन के गानों में अकसर ऐसे शुद्ध भरकम शब्दों का प्रयोग होता है, इन शब्दों को केवल सुनने से ही हमारे चित्तपट में चित्र के बाद चित्र अंकित हो जाते हैं।

तानसेन के पद ध्रुपद गाने के अस्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग इन चार अंशों का आश्रय लेकर चार खंडों में विभक्त होते हैं। पदों के छंद साधारणतया दीर्घ होते हैं, चार छत्रों के बड़े-बड़े हिन्दी छन्द तानसेन के पदों में मिलते हैं; फिर चार छत्तों में विभाजित गद्य भी मिलता है।

विशेष करके ध्रुपद गाने के लिए सब पद या गीत रचे हुए हैं। तानसेन की काव्य-सरस्वती की स्वच्छन्द और सावलील स्फूर्ति के लिए यह एक कठिन अंतराय के रूप में खड़ा है। इधर पद का बाह्य रूप शृंखलाबद्ध है, उधर विषय-वस्तु भी सुनिर्धारित है। ध्रुपद गीत के विषय केवल ये ही हो सकते हैं। परब्रह्म या परब्रह्म के ध्यान ग्राह्य स्वरूप शिव, देवी, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, गणेश इत्यादि हिन्दू पौराणिक देवताओं का महिमाकीर्तन, उनके रूप और उनकी लीलाओं का वर्णन। प्रकृति-वर्णन, विशेषतया, विभिन्न ऋतुओं का वर्णन; संगीत का महिमाकीर्तन; राधा-कृष्ण अथवा साधारण नायक-नायिका का विरह-मिलन; अभिसार आदि अवस्था में प्रेम-वर्णन एवं राजाओं के महत्त्व

या गौरव का वर्णन। तानसेन और दूसरे कवि के मुसलमानी मज़हब के मुताबिक ध्रुपद के कुछ पद मिले हैं; इनमें अल्लाह की स्तुति और गुण-वर्णना और नबी मुहम्मद और मुसलमान पीर या साधकों के गुण वर्णन—ये सब पाये जाते हैं। ध्रुपद गाने में व्यवहृत शब्द प्रायः सब-के-सब पुरानी हिन्दी और संस्कृत के होते हैं। तानसेन के समय अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू का उद्भव नहीं हुआ था। पर कुछ मुसलमानी मत के पोषक पदों में उस मत के आवश्यक कुछ कुछ अरबी-फारसी नाम और अन्य शब्द प्रयुक्त होते थे।

यह मानना पड़ेगा कि ध्रुपद-रीति के पदों में कवि की कवित्व-शक्ति के पूर्ण प्रकाश के लिए कुछ लक्षणीय बाधायें थीं। तो भी तानसेन एक प्रथम श्रेणी के प्रतिभावान् कवि थे, यह बात बंधनों के बीच उनकी वाणी के सौन्दर्य से प्रमाणित होती है। ध्रुपद में किसी एक प्रकार का धीरोदात्त और स्निग्ध-गंभीर भाव विद्यमान है; इसकी गठन शैली होती है, विराट् वास्तु-शिल्प की सी, परस्पर-ग्रथित और सुसंबद्ध। इस वास्तुशिल्पानुरूप गुण के कारण तानसेन के ध्रुपद गीतों में एक कोटि की महिमा, एवं एक शुद्ध-संयत भाव आ जाता है, जो कि उनकी रचना-शैली की उदारता, उसके आभिजात्य एवं उनके शब्द-चयन की शक्ति से और भी पुष्ट और भी समृद्ध और भी उद्भासित हो उठते हैं। देवताओं की स्तुति में या इनकी महिमा के कीर्तन में विशेषण और नाम-शब्दों का प्रयोग तानसेन ने अपने पदों में किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई आदमी या मौलिक महत्व और विशालत्व भरा हुआ है। दृष्टांत के रूप में परब्रह्म, शिव या विष्णु विषयक कुछ पदों का उल्लेख किया जा सकता है। पंखियों के गाने और दक्षिणी पवन के साथ वसन्त ऋतु का आनन्दमय रूप, पूरबी बयार, बादलों की घटा, बिजली की चमक, मेघगर्जन और वारिपात के चित्र, मोहक स्निग्ध ध्वनि के साथ वर्षा ऋतु, विश्वप्रकृति को ज्योति से उद्भासित कर उषःकाल में सूर्योदय, हिमालय की गोदी में ध्यान-मग्न योगीश्वर धूर्जटी महादेव, श्री के साथ महासागर पर अनन्तशायी महाविष्णु, राधा और कृष्ण की शाश्वत अनैसर्गिक प्रेमलीला—भरतीय काव्य-साहित्य में महिमामय तथा माधुर्यमय जो भी कुछ हो,

was reize und entzuect,
was sacttigt und naehrt

उन सबों से तानसेन के पद मानों भरपूर हैं। प्राचीन और मध्ययुग के हिन्दू-काव्य, ज्ञान, योग और भक्ति का मानों मंथन करके जो नवनीत

निकला, वह तानसेन के स्वर्ण कटोरे में धर दिया गया है। ध्रुपद की वाणी तथा अन्य कवियों के नायक-नायिका और राग-रागिणी की वर्णना के पद—इनमें प्राचीन राजपूत और मोगल शैली के चित्रों की कवितामय व्याख्या या टीका पाई जाती है। ये दो वस्तुएँ भारत के काव्योद्यान के दो अनिन्द्य सुन्दर सौरभमय पुष्प हैं। ऋग्वेद के ऋषियों के समय से शुरू कर भारत की प्राचीन तथा मध्य-युग की कवि-परम्परा के बीच तानसेन का आसन सुतरां गौरवमय है।

तानसेन राजसभा के कवि थे। जगत् के इतिहास में श्रेष्ठ महामानव सम जो राजा थे उनमें से अन्यतम सम्राट् अकबर के उपयुक्त सभासद् और सभा-गायक थे। राजसभा के कवि और गुणी होते हुए भी, तानसेन की काव्य-वस्तु देश के जन-साधारण या जनता की अनुभूति के बाहर की नहीं थी; राजा की सभा बैठकर उन्होंने जो पद बनाये, जो गीत गाये, उनसे पण्डित और अभि-जातजन, वणिक और योद्धा, दीन ग्रामीण कृषक और शिल्पी, सब श्रेणी के मानवों के अन्तरतम व्यक्तित्व का संयोग था।

"आविर् अकृत प्रियाणि"

जो कुछ हमारे प्रिय हैं, जो हमें सुहाती हैं, उन्हें सर्वजन-समक्ष उन्होंने प्रकाशित कर दिया है, नये तौर से उन्हें आविष्कृत कर दिया, अपने काव्य और संगीत की आलोक-धारा से उन्हें परिस्फुट कर दिया है। तानसेन की कविता ने भारत के जातीय-चित्त से रस पीकर अपने रूप को विकसित कर दिखाया है।

तानसेन के नाम से संयुक्त जो पद या कविता मिलती हैं, वे खंडाकार में विक्षिप्त रूप से ही मिलती हैं; परम्परागत या क्रम-विकास के अनुसार उनकी सजावट अब असम्भव-सी दीखती है। रामलाल मैत्र महाशय द्वारा संकलित "ध्रुपद-भजनावली" पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि तानसेन का व्यक्ति-जीवन तीन पर्याय या विभाग में विभक्त किया जा सकता है। पहिला विभाग यौवन का है। इस समय इन्होंने अपने मित्र और पोषक राजाओं के गुणगान किये हैं और ऋतु प्रभृति प्राकृतिक-वस्तु के वर्णन ज्यादातर किये हैं। दूसरा विभाग प्रौढ़काल का है। इस अवस्था में आप देवताओं की लीला और महिमा गाते थे, इस श्रेणी के पदों में ऐश्वर्य-बोध तथा अन्तर्दृष्टि दोनों ही मिलती हैं, पर गंभीर आत्मानुभूति नहीं देख पड़ती। तीसरे विभाग में अपने परिणत वय और वार्धक्य की कविताओं में तानसेन राधाकृष्ण-लीला का वर्णन कर गये हैं। राधाकृष्ण-विषयक पद वस्तुतः भावगांभीर्य तथा भक्ति के गम्भीरत्व में अतुलनीय हैं। परन्तु ऐसा पर्याय-विभाग पूर्णतः समालोचन की अपनी ओर से की हुई

वस्तु है, तानसेन के पदों में ऐसे किसी ऐतिहासिक क्रम का निरूपण करना अब असम्भव है।

सरल और अकपट विश्वास और प्रीति के कारण तानसेन के विनय अर्थात् प्रार्थनात्मक-पद अपने ढङ्ग के अतुलनीय हैं। उनके धार्मिक पदों में हमें एक तात्विक, मर्मज्ञ और भक्त-व्यक्ति से साक्षात्कार होता है। अपनी जातीय-संस्कृति के मुख्य वस्तु और सिद्धान्तों से सुपरिचित और उनके सम्बन्ध में श्रद्धा-वान् और आस्थाशील एक यथार्थ ब्राह्मण का भी परिचय तानसेन के पदों से होता है। शिव, पार्वती, विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य, गणेश प्रभृति महनीय और विराट् कल्पना की अन्तर्निहित गम्भीरचिन्त ज्ञान और उपलब्धि, कवि-दृष्टि और सौन्दर्यबोध—इन सबों में कोई भी उनके दर्शन से छिप नहीं सका। वेद और उपनिषद् से, रामायण, महाभारत, पुराण और तंत्र, और मध्ययुग के साधु और सन्तों के भक्तिवाद इन सबों में जो ज्ञान, जो सत्यसृष्टि, जो प्राण और जो रसदृष्टि है, तानसेन उन सबों के उत्तराधिकारी हैं। तानसेन के ध्रुपद सुनने से सुननेवाले के मन में प्रार्थना और आत्मनिवेदन के दिव्यभाव की जागृति होती है, यह भी देखा गया है।

किसी देवमन्दिर में देवविग्रह के समक्ष, अथवा मित्रगोष्ठी में या रसिक-समाज में, ज्योत्स्ना-विधूत रात्रि में सौध-शीर्ष पर, अथवा उद्यान के चबूतरे पर, नक्षत्रखचित रजनी में नदी या किसी विराट् जलाशय की तीर-भूमि पर, या किसी आश्रम या कुंजवन में बैठकर सुनना, ध्रुपद गाने के लिए सब से उपयोगी पारिपार्श्विक होते हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी में, अच्छोद सरोवर के तीर के शिवालय में विरहिणी कुमारी महाश्वेता की वीणा के साथ गान करने का अति मनोहर चित्र वर्णित है। महाश्वेता के कंठ से शिव की महिमा वीणा-वादन के साथ जिस संगीत रीति से गीत हुई थी, वह इस समय से सहस्र वर्ष पूर्व के ध्रुपद सङ्गीत के सिवा और क्या हो सकता है? दुष्यंत की रानी हंसपदिका ने अपने "सकृत्कृतप्रणय" पति के चित्त में प्रणय के पुनराविर्भाव की आशा से वीणा बजाती हुई जो 'कलविशुद्धा' 'रागपरिवाहिनी' 'गीति' का गान किया था वह भी ध्रुपद के किसी कोमल राग के प्राचीन रूप का प्रकाश रहा होगा। वैसे "मेघदूत" की विरहिणी यक्ष-पत्नी वेदनातुर हृदय से वीणा बजाने की चेष्टा करती हुई निर्वासित पति के स्मरण में जो पद गाती थी, गाने के बीच में अपनी रची हुई मूर्छना को भूल जाती थी, वह पद कालिदास के समय के ध्रुपद के सिवा और क्या रहा होगा? ईश्वर की जो स्तुति निसर्ग को सुन्दर वस्तु और

सुश्राव्य ध्वनिनिचय द्वारा प्रतिदिन ध्वनित हो रही है, हिमालय की अरण्य-सङ्कुल उपत्यकाओ में शुषिर वंश दण्डों के मध्य से प्रवाहित होकर वायु जिस वन्शी-निःस्वान को मुखरित कर जाता है, पर्वत की गुहाओं में प्रतिध्वनि जगाकर मेघों के गुरु गर्जन से जो मृदङ्ग मंद्रित हो रहा है, अदृश्य किन्नरियों की कंठध्वनि से सम्मिलित होकर प्रकृति के उस शिवमहिम्नस्तोत्र का गान, मानो इस ध्रुपद-सङ्गीत में ही कदाचित् प्रकाशित होता है। और राधा के लिए युग-युगान्त से श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, श्रीकृष्ण के लिए राधा की शाश्वत अभिसार-यात्रा इन सब का भी आभास ध्रुपद में ही प्रतिध्वनित होता है।

रोमन-कैथोलिक धर्म की सब से मनोहर और गांभीर्यपूर्ण पूजापद्धति देखने के अवसर मुझे मिले हैं। अपने हिन्दू धर्म को अपूर्व श्री-शोभा-मंडित बहु पूजा-पाठ और यज्ञादि अनुष्ठान मैं देख चुका हूँ। नाना प्रकार की पाठ पद्धति श्रद्धा के साथ मैंने सुनी है—काशी में, पुरी में, दक्षिण के तमिलदेश के तीर्थों में, अन्य क्षेत्रों में। साधारणतः इन सब पूजा-पाठ के आभ्यन्तर-सौन्दर्य और महत्व ने मुझे मुग्ध किया है। परन्तु विशेष करके मेरे मन में उदित हो रही है उदयपुर राज्य में एकलिंग जी के मन्दिर के एक दिन की भोर की पूजा की स्मृति। गैरिक वसन पहने हुए गले में और हाथों में रुद्राक्ष की माला पहने हुए तेजःपुंज कलेवर गौरवर्ण दीर्घकाय श्मश्रुमान् एक संन्यासी पुजारी, अति सुन्दर शुद्ध उच्चारण के साथ मंत्र पढ़कर भगवान् की पूजा कर रहे थे; बीच-बीच में पूजा के बीच में गर्भगृह के द्वार बन्द किये जाते थे; इधर अलंकरण-मण्डित प्रस्तरमय देवमूर्ति के सामने के नाट्य मन्दिर में एक कलावन्त गायक पखावज और सारङ्गी बजैये के साथ बैठे थे। पूजा के लिये जब देवगृह के दरवाजे बन्द होते थे तब वे शंकर की स्तुति के लिए एक ध्रुपद चौताल गाने में लग जाते थे। कुल मिलाकर पूजा का जो अपूर्व वातावरण बना, भाषा में उसका क्या वर्णन करूँ। पूजा समाप्त होते समय पुजारी के शेष मन्त्रों में एक की ध्वनि ने मानों समग्र अनुष्ठान के सम्बन्ध में अन्तिम वचन सुना दिया। इस मन्त्र के श्लोकों का सम्पूर्ण रूप से स्मरण में रख नहीं सका। परन्तु एक श्लोक का अंश कुछ ऐसा था—

"शिवे भक्तिः शिवे भक्तिर्भक्तिर्भवतु मे सदा।"

तानसेन के ध्रुपद की कविता के एकमात्र उपयोगी चित्रमय प्रकाश हम राजपूत और मुगल-चित्र में देख पाते हैं। ये सब चित्र और तानसेन की कविता, ये दोनों परस्पर की पूर्ति करनेवाले हैं। ध्रुपद गानों के लायक पारिपार्श्विक या

यों से ऐसे चित्र परिपूर्ण होते हैं। राजपूत शैली के रागमाला चित्रों को श्यमान सङ्गीत" आख्या दी गई है और यह आख्या सार्थक है। पर्वतराज-ारी उमा अकेली या सखी-सहित अरण्यमय गिरिपार्श्वदेश में गंभीर ीथ में शिवपूजा कर रही हैं। सङ्गीतकार, वादक और योगी मिलकर नदी-: पर किसी आश्रम में बैठे वार्तालाप कर रहे हैं। शरत्काल के प्रभात रौद्र अचिरस्नाता पूजानिरता कुमारी चित्रित हैं। इस प्रकार वह चित्र ध्रुपद गानों सुन्दर रूप से प्रकाशित करते हैं।

तानसेन के कुछ पद उद्धृत करके मैं इस निबन्ध का उपसंहार रूँगा। अधिकतया ये पद बङ्गाल के गवैयों में प्रचलित पाठों से उद्धृत किये ये हैं। पाठ में कुछ भूल-भ्रान्ति रह सकती है, विशेषज्ञ पाठकगण कृपा कर शोधन कर लेवें। उषा-संपर्कित पदों में वैदिक उषा-विषयक सूक्तों की प्रति-ानि पाई जाती है। इन कविताओं से तानसेन के कवित्व-माधुर्य का अनुभवी ाठक आस्वादन कर सकेंगे।

[१] सूर्योदय। राग ललित-भैरव। ताल चौताल॥

हेम-किरीटिनी उषा देवी कनक-बरनी सविता-गेहिनी।
उवत मधुर हास जग हसायौ।
सिन्धु-बाटि उदत भानु, बिमल सोह जैसे मानौं।
निसा-नायरी कनक-गागरी पानी भरि भरि मङ्गल अस्नान करायौ।
विहग मधुर ललित तान गावै, भुवन नव जीवन।
आनँद-मगन सब जग जन मङ्गल-गीत गायौ।
आयी उषा कवँल-नेत्री, गायत्री, जगधात्री, लै कै।
अरुन-किरन-मञ्जन तानसेन मानस-तामस दूर लियौ॥

[२] शिव। राग भैरव। ताल धीमा तिताला॥

महादेव महाकाल धूरजटी सूली पञ्चवदन प्रसन्न-नेत्र।
परमेश्वर परात्पर महा-जोगी महेश्वर परम-पुरुष प्रेममय परा सान्तिदाता।
सरिता-गन भिन्न भिन्न पन्थ जैसे आवत, सिन्धुवा पाइ रहत मगन—
तानसेन कहै—तैसे भगत भिन्न भिन्न मूरति उपासत ए मही बमूह आवत॥

[३] सूर्योदय। रागिनी ललित। ताल चौताल॥

गगन-मंडल-मध्य उदयाचल पर अष्ट-बाजी कनक-रथ में अरुन सारथि होत, प्रिया उषा सवेँ अरुन-बरन रङ्गी बसन पहिरि भानु उदत।

गगनाङ्गन अँधार-धूरिया किरन-मञ्जन दूर लिया, हुल्लास प्रकृति हँसत अमिआ, विचित्र भूषन मोहन साजत।

कानन-कुन्तल नीहार-बूँदन जड़ित, मुकुता माल मानौं, सिन्धु निचोल, अचल मेखला, नितम्ब धरन बिसाल।

बाला के सिन्दूर-बूँद भाल, ग्रह-उड़-सप्तर्षि-मण्डल सोहन; प्रकृति सोह निहारि तानसेन प्रान मतावत॥

[४] नारायण के प्रति। विनय। रागिनी भैरवी। ताल चौताल॥

अन्तकाल कृपा करो। हिआ-पर ठाढ़ो हरि कवँल-नैन, कवँला-पति, मुरली अधर, ललित-मधुर, बङ्किम भइ बङ्क-विहारी।

बदन खीन, इन्द्रिय-हीन; पाप सुवँरि सुवँरि अस्थिर प्रान; निरासा प्रवर, विश्व अँधार; गेह छोड़ि प्रान जात हरि। विषय आपद, सुख सम्पद धन जन दारा बाँधव सुत सब-कौ छोड़ि चलिहौं, एक करम अब सङ्गि रहियौ।

पतित-पावन प्रभु जनार्दन, पतित दीन तानसेन; विश्व मोहन, पारगामी प्रान, आस्रय दीजै, गोलोक-बिहारी॥

[५] सूर्यास्त। रागिनी सायरी। ताल चौताल।

जगत-जीवन सविता देव अस्ताचल-में जात, अँधार जगत मोहित होके मोह माया में सुपत।

पसु-पंछी कलरव कर जात सब आपे कौ भवन भये रहन गुपत।

प्रकृति स्तब्ध मुगध, मोह-जाल नर-नारी-जीव-जन्तु अचेतन होत, आवत नींद सरन।

तानसेन-प्रभु कृपा-निधान जगत-कारन, अज्ञान-तम-सों जात लुपत॥

[६] विनय। दरबारी तोड़ी। ताल चौताल।

प्रान मेरौ ही रोवत है विरह प्रान-बल्लह निस-दिन; हे हरि, सरनागत दीन-कौ दरसन काहे न मिल।

ढूँढ़ि हिर्द न पावै निधि, या बिधि तेरी बिधि; हिर्द-नाथ, दीन-नाथ, कौन गति कीन मेरे अपराध-के फल।

सून प्रान, सून मन, सून हिर्द आसन; अँधार भयौ विस्व-संसार, हे नाथ। तानसेन बिनती करत—आइ हिर्द जगन्नाथ मरुभूमि प्रेम-बारि बरखि प्रान कीजै सीतल॥

[७] परमेश्वर-स्तुति । रागिनी अलैया । ताल चौताल ।

जगत-जीवन हौ प्रभु, भगत-बच्छल तूँ ही भगवान; भगत-हिअ-पङ्कज राज अचल-राज राज-राजेश्वर अगन-भुवन-पालक ।

तूँही माता तूँही पिता, तूँही धाता बान्धव; तूँही प्रिय प्रानाराम,
तूँ ही सान्ति, सुख गति, मोछ-भक्ति-दाता ब्रह्म तारक ।

प्रान-बल्लह, बहुबल्लह—तानसेन-कौ एक बल्लह; माया-मोह-मुगध चीत संसार ताप तपत; सान्ति दाता, दीजै सान्ति दीन-कौ ॥

[८] वसन्त । रागिनी हिन्दोल । ताल चौताल ।

सरस सुन्दर ऋतुराज बसन्त आवत भावन, कुञ्ज कुञ्ज फूलि फूलि भवँर गूँज, कोयिल पञ्चम गान मतावै नर-नारी ।

कानन कानन फूटत चमेली, बकुल गन्धराज बेली, मोतिया गुलाब सुगन्ध मनोहारी ॥

पवन चलत मन्द मन्द बिछुड़ि गन्ध चहुँ दिस; गुञ्जन झनन नाद पञ्चम पूरत सबहूँ बन-भुव ।

रति-पति भज जुवक-जुवती, नाचत गावत हिन्दोल माति; गोविन्द-मङ्गल तानसेन गायौ री ॥

[९] वर्षाऋतु । राग मलहार । ताल चौताल ॥

बादर आयौ री, बाल पिअ बिन लागइ डरपावन ।
एक तो अँधेरी कारी, बिजुरी चवँकत उमड़-घुमड़ बरखावन ।
जब-ते पिया परदेस-गवँन कीनौ तब-तें विरह भयौ मो तन-तावन ।
सावन आयौ, अत झर लावन; तानसेन प्रभु न आवै मन-भावन ॥

[१०] उमा को शिवपूजा । राग भैरव । ताल चौताल ॥

चन्द्र-बदनी मृग-नयनी हंस-गवँनी चली है पूजन महादेव ।

कर लिये अरघ-थार, पुहपन-के गूथे हार, मुख दियरा जराय देवन-में देव महादेव ।

सोलह सिङ्गार बतीसौ अभरन सज नखसिख सुन्दरताई छबि बरनी न जाइ, है निरमल मञ्जन कर सेव ।

तानसेन कहै—धूप दीप पुष्प पत्र नैवेद्य लै ध्यान लगाय हर हर हर आदि देव ॥

[११] विरह । रागिनी विहाग । ताल चौताल ॥

साईं, तूँ न आवै आज, आधी रात (आँधी रात), माझ माझ सिंहनी जगावै सिंह कानन पुकार ।

चन्दन घसत घसत घस गये नख मेरे, बासना न पूरत माँग-को निहार।

धिक जनम मेरे, जग-में जीवन मेरे बिमुख लगावै नाथ पकरि बेनु बार बार ।

हौं जन दीन अति नयन-हू बारि बहै; तानसेन-अन्तर-बानी धुहराइ पुकार ॥

[१२] विरह । राग बिलावली । ताल चौताल ॥

तन-की ताप तब ही मिटैगी मेरी, जब प्यारे-कौ दृष्टि-भर देखौंगी ।

जब दरस पाऊँ प्रान-प्रीतम-कौ, जनम जी तब सफल अपनौ लिखाऊँगी ।

अष्ट जाम मोहि-कौ ध्यान रहत वा--कौ, आली-कौ ले भेटौंगी ।

तानसेन प्रभु कोऊ आन मिलावै, ता-के पावन सीस टेकाऊँगी ॥

ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली

(पल्लव की भूमिका का पूर्वार्द्ध)

(श्री सुमित्रानंदन पंत)

हिन्दी कविता की नीहारिका, सम्प्रति, अपने प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है; समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी हो ज्योति में अपने लिए नियमित पन्थ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें; ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र-परिधिहीन द्रवित-वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ स्वरूप में घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा; हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा; हमारे प्रभात में कितना सोना होगा, रात में कितनी चाँदी !

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात-परिधि पर निर्भर न रहकर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है; जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नहीं पहुँचा था, वह उसे चिपटी मान कर भी चलता रहा; हम अपने प्रौढ़-पगों के लिए नहीं ठहरते, घुटनों के बल चलने के नियमों को सीख कर ही आगे बढ़ते हैं। सच तो यह कि भूमिका बाँधना नहीं छोड़ सकते।

अब व्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार मा के गर्भ से जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत् है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह "पिय" को "प्रिय" कहने लगी है। उसका किशोर-कंठ फूट गया है, अस्फुट अङ्ग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई, वह विपुल विस्तृत हो गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई; चारों दिशाओं से त्रिविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमाञ्चित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौन्दर्य मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। वह अज्ञात-यौवना कलिका अब विकसित हो गई; प्रभात

के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया, चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायु-मण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया; विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु-ऋतु थी; उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस उमड़ चला! आज भी वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो एक दन्तहीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाज़ीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राणहीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयँगी। लेकिन, यह अपवाद ही खड़ीबोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाञ्चजन्य उठा लिया; सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ीबोली उस जाग्रति की शंख-ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन; उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्य-व्यग्र प्रकाश।

ब्रजभाषा के मोम में भक्ति का पवित्र-चित्र, उसके माखन में शृङ्गार की कोमल करुण-मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झंकार है, उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक-शान्ति ही ब्रजभाषा के रूप में बदल गई। वह सम्राट् अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित-राज्यकाल; जिनकी निर्द्वन्द्व छत्रछाया में उनकी शान्ति-प्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीड़ित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों में लहलहा उठा। राजा महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथों से संगीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। संगीत की आकाश-लता अनन्त झंकारों में खिल-खिल कर समस्त वायु-मण्डल में छा गई, मृग चरना भूल गए, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा-सिञ्चित राग-रागनियाँ—जिन्हें कहीं शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रक्खे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायँ, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिये—अभी तक हमारे वसंतोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस

हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की वह सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचंचल-वरुनियों, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष में अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानों शिल्पकला ही गला कर ढाल दी गई।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्दसौरभ तथा अनन्त मधु से राशि राशि भौंरों को मुग्ध कर रहे हैं;—यहाँ कूल, केलि, कछार, कुंजों में सर्वत्र असुत-वसन्त शोभित है। बीचों बीच बहती हुई नीली यमुना में, उनकी फेनोज्वल चंचल तरङ्गों-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे छिपे अभिसार करती, भौंरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतु कल्पना के बहुरंगी पंखों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन-वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आसपास "आनन-ओप-उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है। चपला की चञ्चल डोरियों में पैंग भरते हुए नये बादलों के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्रधनुषी सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक में हिंडोरे की रमक मिला रही हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता में अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मण्डल उसके श्री-चरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलङ्कारों की झनक ने देह-वीणा से फूट कर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों में काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूखकर काँटों में बदल गये हैं; वह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम के पलकों में सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय में स्वर्ग का बिंब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल पल पर पलटन लगे जाके अङ्ग अनूप" ऐसी उस ब्रजबाला के स्वरूप को कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अंचल-छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार-वायु में उड़ता हुआ, नीलाकाश की तरह फैलकर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोंके शीघ्र ही सौ सौ हाथों से उसे खींच लेते हैं। वह ब्रज के दूध-दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित-यौवना अपनी बाह्यरूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत के सौन्दर्य के

उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता; निःसन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नन्दन-कानन है ! जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्वल-कारिणी स्निग्ध-चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीप-शिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत शत ध्वनिपूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य-स्वरूप है, यह उसका गम्भीर, निर्वाक् अन्तस्तल !

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण-गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी; जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णाङ्कित हैं; इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्ट-छाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स-चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग-प्रवर्त्तकों के गम्भीर अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त उद्गार उमड़ कर, देश के आकाश में घनाकार छा गये। ब्राह्मणों के शुष्क-दर्शन-तत्वों की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय वायुमण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया; राम-कृष्ण के प्रेम की अखण्ड रस-धाराओं ने, सौ सौ बौछारों में बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूर-सागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी-मानस !

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूर-सागर ! वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि !—उसमें अमूल्य रत्न हैं ! उसकी प्रत्येक तरङ्ग श्याम की वंशी की भुवन-मोहिनी-तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ सौ पुरानी नावों को पार लगाती असीम की ओर चली गई है। वह भगवद्भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल-प्रलय है, जिसमें समस्त संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय-प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमें एक बार पैठ कर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिरे हुए को यदुपति भले ही बाँह पकड़ कर निकाल सकें, पर जो एक बार "सागर" में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते ! सूर-सूर की वाणी ! भारत के "हिरदै सों जब जाइहौ मरद बदौंगो तोहि !"

और रामचरित-मानस ! उस "जायो कुल मंगन" का 'रत्नावली' से ज्योतित मानस ? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष दिन मलीन सकलङ्क,
उन सन समता पाय किमि, चन्द वापु रोरङ्क"

तुलसी-शशी की उज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस! वह हमारी सनातन धर्मप्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म-शरीर है। आर्य-सभ्यता का विशाल-आदर्श है, जिसमें उनका सूर्योज्ज्वल-मुख स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। तुलसीदास जी के निर्मल-मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ सौ तारक-चुम्बित सरल तरल-वीचियों के ऊपर जो शक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादा-पुरुषोत्तम की पवित्र-पद-रेणु से परिपूर्ण है! मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन मुप्ति में जाग्रत है। ये दोनों काव्य-रत्न भारती के अक्षय-भण्डार के दो सिंह-द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन-वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्भरों के रूप में फूटकर ब्रजभाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमें हम उस साखियों के सम्राट्, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण-पंकज, उस स्वर्गीय संगीत के जुलाहे के साथ। जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने में गगन का "शब्द-अनाहत" बुन दिया—एकान्त में अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करनेवाली उस मीरां को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजस्थान के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया; उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया! ऐसा था अपार उस युग के मधु का भाण्डार, जिसने ब्रजभाषा के छत्ते को लबालब भर दिया; उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस ब्रज के बन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थि-पञ्जर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृग-तृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक

पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गृदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं!

अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की सङ्कीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके; अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये। सहस्र दादुर उसमें छिपकर टर्राने लगे; समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली नीली लहरें काली पड़ गईं। भक्ति के स्वर में भारत की जन्मजन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्ध बिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़ छेड़ कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की समस्त आबाल-वृद्धाएं नग्नप्राय कर, भारतीय-गृहस्थ के बन्द द्वारों से बाहर निकाल दीं; उनके कभी इधर-उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव संसार के मारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गईं।

शृंगार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर "नायिका" के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यंत, — जब तक कोई 'चन्द्र-बदनि मृग-लोचनी' तरस खाकर उनसे बाबा न कहदे,—उनकी रसलोलुप सूक्ष्म-तम-दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव में उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त-ब्रह्मांड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जरामरण क क्या भय? क्या इनकी "नायिका", जिसके वीक्षण मात्र से इनकी कल्पना तिलव की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी?

इसी विराट्-रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुषधर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथ कर इन्हों कामदेव को नव-जन्म-दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इ वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर

सहस्र नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायब-घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय-व्यूह शीशमहल' बना दिया कि आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगी बिम्बों में बदल गई—जिनकी भूलभुलैया में फँस कर देश के लिये अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया!

और इनकी वियोग-वह्नि ने क्या किया? इनकी और्व के नेत्रों की ज्वाला-सी आह ने? देश की प्राण-संचारिणी, शक्ति-संजीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचंड लू में बदल दिया! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जलकर छार हो गए; शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये; पवित्र प्रेम का चंदन-पङ्क सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गई, शक्ति की कमर खो गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया!

ऐसी थी इनकी वीभत्स, विकार ग्रस्त विलासपुरी! और इनकी भाषा-लङ्कारिता? जिसकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है?

बहत्तर-ग्रंथों के रचयिता, "नभमण्डल" के समान देव; 'देखन के छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा ससुराल', रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होनेवाले, कठिन-काव्य के प्रेत, पिङ्गलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन-केशवदास जी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खञ्जन, शङ्ख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना;—बस इसके सिवा और कुछ नहीं। सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत शत रस-धारों में फूट रहा है, सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है! बीथियों में पराई पीर न जानने वाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीक-लीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है; कुञ्जों से

उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन पत्रों के झरोखों से 'दीरघ दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया!—आँख की उपमा? खञ्जन, मृग, कञ्ज, मीन इत्यादि; होठों की? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि; और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की? शुक, दादुर, ग्रामोफ़ोन इत्यादि। ब्रजभाषा के उन्नत-भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल-वक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अङ्गों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिये बना ही रहेगा! उसकी उदार-छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया! ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भूलुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृङ्खलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर' 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता!

इस तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि-पुङ्गव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को,—नायिका के अङ्गों को चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिये—कभी कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं। और वीर तथा रौद्र-रस की कविता लिखने के समय तो ब्रजभाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भूषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने एक लाख रुपये के नोन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय "सस्ससुन धुन, जज्जकि जन, डड्डुरि हिय, धद्धद्धड़कत" इत्यादि अनुप्रासों के कम्पज्वर की उच्छृङ्खल बड़बड़ाहट को सुनकर 'धद्धद्धड़कने' लगा, अपनी वीरगर्भा कविता के कवच में इधर-उधर से कड़ी कड़ियाँ छान बीन कर लगानी पड़ीं।

यह है केवल दिग्दर्शन-मात्र, नयन-चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन-चार शताब्दियों के ओर-छोर-व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिंहाव-लोकन मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण-सिंहासनासीन भारती के पुत्र-रत्नों के

अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो, पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रजभाषा के अलंकृत-काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत् चुम्बक की ओर इङ्गित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टायें काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई हैं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी-प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उनका घर घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञान-वृद्ध, वयोवृद्ध, काव्य-मर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी उन्मुक्त नहीं हो सकेगी।

× × × ×

ब्रजभाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अञ्चल-छाया में, सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वरों के तारों से गूँथ देता हो, सहस्र-रङ्गों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहाँ सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो,—पर उसका वक्ष-स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी; द्वीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी; विविध प्रदेशों का जलवायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हमें भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके; जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुंचित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत शत स्पष्ट स्वरूपों में तरङ्गित-कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती-गाती, चढ़ती-गिरती, सङ्कुचित-

प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, सन्धि-संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में; हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो; हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो, हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक् हों, वाद्ययन्त्र के पृथक्; हमारी भाव-तन्त्री तथा शब्द-तन्त्री के स्वरों में मेल न हो; मूर्धन्य "ष" की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय! हम इस व्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते; इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फ़ैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रँग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिलकुल आउट-अव्-डेट हो गई है! यह नक़ाब पहना हुआ हास्यप्रद-चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रङ्ग में रँगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यों न हों, इसी में हमारे वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल की कुशल-क्षेम है, कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपने नवीन नूपुर-नृत्य के जो मधुर मुखरित अविरत पद-चिह्न हमारे देश के वक्षस्थल पर छोड़ रही है, उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन में प्रतिध्वनित करने के बदले, हम व्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे में अङ्कित करना नहीं चाहते। हमें देश-काल की उपेक्षा करनेवाले, अपने राष्ट्र के भाग्य-विधाता के विरुद्ध खड़े होकर झाड़-झङ्खाड़मय नवीन कुरूप सृष्टि करनेवाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं; इनकी प्राचीन व्रजभाषा की काशी, हमारे संसार से बाहर, इन्हीं की अहम्मन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती; उसकी अन्धी गलियों में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता; काल की त्रिवेणी में—जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट काली यमुना का विशाल सङ्गम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वभाविक है!

खड़ीबोली में चाहे ब्रजभाषा की श्रेष्ठतम इमारतों के होड़-जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरों में वैसी बेल-बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं में अजन्ता का-सा अद्भुत-अध्यवसाय, चमत्कार, विविध वर्णों की मैत्री, तथा अपूर्व हस्त-कौशल, उसकी छोटी-मोटी,

इस पत्थर के काल की मूर्तियों में, वह सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले; उसमें अभी, मानस के-से पवित्र-घाटों का अभाव हो,—पर उसके राजपथों में जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने जानेवाले यात्रियों के लिये जो रथ तथा यानों के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा; उसकी हाट-बाट विपणियों में जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास-वैचित्र्य का आयोजन है, देश-प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है; उसके पार्कों में जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता, पुष्पों की भिन्न भिन्न ढाँचों में खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार रङ्ग-बिरङ्गी क्यारियाँ; सामयिक-रुचि की कैंची से कटी छँटी जो विविध-स्वरूपों की झाड़ियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ; नव-नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा सिञ्चित कुंज, लता-भवन और वेलि-वितान अभी हैं, वे असन्तोषप्रद नहीं; उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित-साँसों का स्पन्दन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन-सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमाञ्च, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन-वसन्त, नवीन-कोकिलाओं का गान है!

इन बीस-पचीस बरसों के छोटे-से बित्ते में खड़ीबोली की कविता के मूल देश के हृदय में कितने गहरे चले गये हैं; उनकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैलकर हमारी खिड़कियों से धीरे धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगीं; किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि राशि पुष्पों की अर्धस्फुट-सौरभ हमारे कमरों में समाने, साँसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी; उसकी सघन हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल-कोकिलाएँ, तरुण-पपीहे तथा प्रौढ़-शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी ओर संकेत करने लगे, उनकी अस्फुट-मर्मर में हमें अपनी विश्वव्यापी उत्थान-पतन, देश-व्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष-विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है; इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं।

खड़ीबोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल-कला में भावी की लोकोज्ज्वल-पूर्णिमा छिपी है। हमारे भविष्याकाश की स्वर्गङ्गा है, जिसके अस्पष्ट ज्योति-पुञ्ज में, न जाने कितने जाज्वल्यमान सूर्य, शशि, असंख्य ग्रह-

उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिंद्य लावण्य-लोक अन्तर्हित हैं ! वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं में नवजीवन-सञ्चारिणी सञ्जीवनी है; वह हमारे भगीरथ-प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य-विधाता की वरदान-स्वरूप, विश्वकवि के हृत्कमण्डल से निःसृत अमृत-स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त-देश के कर्ण-कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल-धारा में हमारे राष्ट्र का विशद-स्वर्ण-यान, आर्य-जाति का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये, धर्म और ज्ञान की निर्मल पालों को फहराता हुआ, अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कला-कौशल, तथा नीति-विज्ञान की विपुल रत्न-राशियों से सुसज्जित, बाधा-बन्धनों की तरङ्गों को काटता, दिव्य-विहङ्गम की ओर अग्रसर हो रहा है ! उसके चारों ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्यतीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हों; हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों !

आम फिर बौरा गए !

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

वसन्तपञ्चमी में अभी देर है पर आम अभी से बौरा गए। हर साल ही मेरी आँखें इन्हें खोजती हैं। बचपन में सुना था कि वसन्तपञ्चमी के पहले अगर आम्रमंजरी दिख जाय तो उसे हथेली पर रगड़ लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी हथेली साल भर तक बिच्छू के जहर को आसानी से उतार देती है। बचपन में कई बार आम की मंजरी हथेली पर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता। पर वसन्तपञ्चमी के पहले जब कभी आम्रमंजरी दिख जाती है तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छू में क्या सम्बन्ध है? बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टि के समय जैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। जल-प्रलय के पहले वाली चट्टानों की दरारों में इसका जैसा शरीर पाया गया है, आज भी वैसा ही है। कम जन्तु इतने अपरिवर्तनशील रहे होंगे। उधर आम में जितना परिवर्तन हुआ है उतना बहुत कम वस्तुओं में हुआ होगा। पण्डित लोग कहते हैं कि 'आम्र' शब्द 'अम्र' वा 'अम्ल' शब्द का रूपान्तर है। 'अम्र' अर्थात् खट्टा। आम शुरू-शुरू में अपनी खटाई के लिये ही प्रसिद्ध था। वैदिक आर्य लोगों में इस फल को कोई विशेष कदर नहीं थी। वहाँ तो 'स्वादु उदुम्बरम्' या जायकेदार गूलर ही बड़ा फल था। लेकिन 'अमृत' शब्द कुछ इसी 'अम्र' का रूपान्तर रहा होगा। पहले शायद सोमरस के खटाए हुए रूप को ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बाद में 'आम्र' संसार का सबसे मीठा फल बन गया और 'अम्रित' अमृत बन गया। अपना-अपना भाग्य है। शब्दों के भी भाग्य होते हैं। परन्तु यह सब अनुमान ही अनुमान है। सच हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। पण्डितों से कौन लड़ता फिरे! लेकिन बिच्छू के साथ आम का सम्बन्ध चक्कर में डाल देनेवाला है अवश्य। मैं जब आम की मनोहर मंजरियों को देखता हूँ तब बिच्छू की याद आ जाती है। बिच्छू—जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है! प्रायः मोहक वस्तुओं को देखकर मनहूस लोगों की याद आ जाती है! सबको आती है क्या?

जरा तुक मिलाइए। आम्रमंजरी मदन देवता का अमोघ बाण है और

बिच्छू मदन-विध्वंसी महादेव का अचूक अस्त्र है। योगी ने भोगी को भस्म कर दिया पर भोगी का अस्त्र योगी के अस्त्र को व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपन का। परन्तु सारी दुनिया! - यानी बच्चों की दुनिया—इस बात को सच मानती आ रही है।

परसाल भी मैंने वसन्तपञ्चमी के पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गए। उसी आम को दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रुक के ही फूलते। कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नवल वधू के समान यह बिचारी आम्र-मंजरी जरा-सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसों को देखकर लजा गई! वस्तुतः यह मेरे मित्र की कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुँह दिखाने लायक न रहता। पर मुझे इतिहास की बात याद आ गई। उससे मैं आश्वस्त हुआ, मनहूस कहाने की बदनामी से बच गया। वह इतिहास मनोरंजक है। सुनाता हूँ।

बहुत पहले कालिदास ने इसी प्रकार एक बार आम्र-मंजरी को सकुचाते देखा था। शकुन्तला नाटक में वे उसका कारण बता गए हैं। दुष्यन्त पराक्रमी राजा थे। उनके हृदय में एक बार प्रिया-वियोग की विषम ज्वाला जल रही थी, तभी वसन्त का पदार्पण हुआ। राजा ने वसन्तोत्सव न करने की आज्ञा दी। आम बिचारा बुरी तरह छका। इसका स्वभाव थोड़ा चंचल है। वसन्त आया नहीं कि व्याकुल होकर फूट पड़ता है। उस बार भी आम पुलकित हो गए। तब तक राजा की आज्ञा हुई। बेवकूफ बनना पड़ा। इन कलियों के रूप में मदन देवता ने अपना बाण चढ़ाया था। बिचारे अधखिंचे धनुष के बाण समेटने को बाध्य हुए—'शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्'। आजकल दुष्यन्त जैसे प्रतापी राजा नहीं हैं। पर पिछली बार भी मदन देवता को अपना अर्धकृष्ट शर समेटना ही पड़ा था तो कैसे कहा जाय कि वैसे प्रतापी लोग अब नहीं हैं? जरूर कोई न कोई पराक्रमी मनुष्य कहीं-न-कहीं विरह-ज्वाला में सन्तप्त हो रहा होगा। कार्य जब है तो कारण भी होगा ही। इतिहास बदल थोड़े जायगा। और इस घटना के बाद जब कोई कालिदास को मनहूस नहीं कहता तो अपने ही कौन कुम्हड़े की बतिया हैं।

आशा करता हूँ, इस बार आम्र-मंजरी को मुरझाना नहीं पड़ेगा। आहा, कैसा मनोहर कोरक है! बलिहारी है इस 'आताम्रहरित-पाण्डुर' शोभा की। अभी सुगन्धि नहीं फैली है किन्तु देर भी नहीं है। कालिदास ने आम्र-कोरकों को वसन्त-

काल का 'जीवितसर्वस्व' कहा था। उन दिनों भारतीय लोगों का हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुन्दर का सम्मान करना जानते थे। गृहदेवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्रकोरक को देखकर आनन्द-विह्वल हो जाती थीं। वे इस 'ऋतुमंगल' पुष्प को श्रद्धा और प्रीति की दृष्टि से देखती थीं। आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है। पुरानी बातें पढ़ने से ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अधभूला पुराना सपना है। रस मिलता है पर प्रतीति नहीं होती। एक अजब आवेश के साथ पढ़ता हूँ—

आत्तम्महरियपाण्डुर जीवितसब्बं वसन्तमासस्स ।
दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि ॥

आम्रकोरकों को प्रसन्न करने की बात भावोच्छ्वास की बहक के समान सुनाई देती है। मनुष्यचित्त इतना नहीं बदल गया है कि पहचान में ही न आए। पहले लोग अगर आम्रकोरक देखकर नाच उठते थे तो इन दिनों कम से कम उछल जरूर पड़ना चाहिए। पुष्प-भार से लदे हुए आम्र वृक्ष को देख कर सहज भाव से निकल जाने वाले सैकड़ों मनुष्यों को मैंने अपनी आँखों देखा है। कोई नाच नहीं उठता। परन्तु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी। छपाई तो अब भी नहीं है, पर सोचता हूँ छपा देनी चाहिए। बहुत होगा, लोग कहेंगे, कविता में कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि हूँ जो अकवि कहाने की बदनामी से डरूँ। जो दुमदार ही नहीं वह लंडूरा कैसे कहा जा सकता है। यह क़विता आम्र-कोरकों की अद्भुत विह्वलकारिणी शक्ति का परिचायक होकर मेरे पास पड़ी हुई है।

कामशास्त्र में 'सुवसन्तक' नामक उत्सव की चर्चा आती है। सरस्वती-कण्ठाभरण में लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतार के दिन को कहते हैं। वसन्तावतार अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वी पर अवतरित होता है। मेरा अनुमान है, वसन्तपञ्चमी ही वह वसन्तावतार की तिथि है। मात्स्यसूक्त और हरिभक्ति-विलास आदि ग्रन्थों में इसी दिन को वसन्त का प्रादुर्भाव-दिवस माना गया है। इसी दिन मदन देवता की पहली पूजा विहित है। यह भी अच्छा तमाशा है। जन्म हो वसन्त का और उत्सव मदन देवता का। कुछ तुक नहीं मिलता। मेरा मन पुराने जमाने के उत्सवों को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। पर हाय देखना क्या सम्भव है? सरस्वी-कण्ठाभरण में महाराज भोजदेव ने सुवसन्तक की एक हल्की-सी झाँकी दी है। इस दिन उस युग की ललनाएँ कण्ठ में कुवलय की माला और कान में दुर्लभ आम्रमंजरियाँ धारण करके गाँव को जगमग कर देती थीं—

छणपिट्ठ धूसरत्थणि, महुमअ तम्मच्छि कुवलआहरणे।
कण्णकअ चूअमंजरि, पुत्ति तुए मंडिओ गामो॥

पर यह अपेक्षाकृत परवर्ती समाचार है। इसके पहले क्या होता था? क्या वसन्त के जन्म-दिन को मदन का जन्मोत्सव मनाया जाता था? धर्मशास्त्र की पोथियों में लिखा है कि वसन्तपञ्चमी के दिन मदन देवता की पूजा करने से स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं। यह और मजेदार बात निकली। तान्त्रिक आचार से विष्णु-भजन करनेवाले बताते हैं कि 'कामगायत्री' ही श्रीकृष्ण-गायत्री है। तो कामदेव और श्रीकृष्ण अभिन्न देवता हैं? पुराणों में लिखा है कि काम देवता श्रीकृष्ण के घर पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए थे। वह कथा भी कुछ अपने ढंग की अनोखी ही है। कामदेव प्रद्युम्न के रूप में पैदा हुए और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें हर ले गया और समुद्र में फेंक दिया। मछली उन्हें खा गई। संयोगवश वही मछली शम्बर की भोजनशाला में गई और बालक फिर उसके पेट से बाहर निकला। काम देवता की पत्नी रति देवी वहाँ पहले से ही मौजूद थीं। और ऐसे मौकों पर जिस व्यक्ति का पहुँचना नितान्त आवश्यक होता है, वे नारद मुनि भी वहाँ पहुँच गए। रति को सारी बातें उन्हीं से मालूम हुईं। प्रद्युम्न पाले गए, शम्बर मारा गया, श्रीकृष्ण के घर में पुत्र ही नहीं, पुत्रवधू भी यथासमय पहुँच गई; इत्यादि-इत्यादि। पुराणों में असुर प्रायः ही शैव बताए गए हैं। कामदेव उनके दुश्मन हों यह तो समझ में आ जाता है, भागवतों से उसका सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मँडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आई नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दिख नहीं रहा है। सुदूर इतिहास के कुज्झटिकाच्छन्न नभोमण्डल में कुछ देख लेने की आशा पोसना ही मूर्खता है। पर आदत बुरी चीज है। आर्यों के साथ असुरों, दानवों और दैत्यों के संघर्ष से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रह के मेरा ध्यान मनुष्य की इस अद्भुत विजय-यात्रा की ओर खिंच जाता है। कितना भयङ्कर संघर्ष वह रहा होगा जब घर में पालने पर सोए हुए लड़के तक चुरा लिए जाते होंगे और समुद्र में फेंक दिए जाते होंगे; पर हम किस प्रकार उसको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षों के उपास्य देवताओं को समान श्रद्धा के साथ ग्रहण किए हुए हैं? आज इस देश में हिन्दू और मुसलमान इसी प्रकार के लज्जाजनक संघर्ष में व्यापृत हैं। बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फेंक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गई हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जायँगी। दोनों दलों

की अच्छी बातें ले ली जायँगी, बुरी बातें छोड़ दी जायँगी। पुराने इतिहास की ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी बुरी आदतों से भी आराम मिलता है।

तो, यह जो भागवत पुराण का शम्बर असुर है, इसका नाम अनेक तरह से पुराने साहित्य में लिखा मिलता है, शम्बर भी मिलता है, सम्बर भी और शाबर या साबर भी। कोई विदेशी भाषा का शब्द होगा, पण्डितों ने नानाभाव से सुधारकर लिख लिया होगा। यह इन्द्रजाल या जादू विद्या का आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुधान' है। यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक भारतवर्ष का है, दूसरा ईरान का। ऐसे अनेक शब्द हैं। ईरान में थोड़ा बदल गए हैं और हम लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं। 'खुदा' शब्द असल में वैदिक 'स्वधा' शब्द का भाई है। 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा सम्बन्धी है। 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादूदाँ' हो जायगा। कालिका पुराण में शाबर असुर के नाम पर होने वाले शाबरोत्सव का उल्लेख है जिसमें अश्लील गाली देना और सुनना जरूरी हुआ करता था। यह उत्सव सावन में मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूप से उसमें भाग लेती थीं। संसार में सभी देशों में एक दिन साल में ऐसा जरूर मनाया जाता है जिसमें अश्लील गाली-गलौज आवश्यक माना जाता है। अपने यहाँ फागुन-चैत में इस प्रकार का उत्सव मनाया जाता है। इसी को मदनोत्सव कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि क्या मदनोत्सव के समान एक और उत्सव इस देश में प्रचलित था जिसके मुख्य उद्योक्ता असुर लोग थे? असुरों के साथ मदन देवता के संघर्ष से क्या इसी लिये दो विभिन्न संस्कृतियों का द्वन्द्व प्रकट होता है? कौन बताएगा?

आर्यों को इस देश में सबसे अधिक संघर्ष असुरों से ही करना पड़ा था। दैत्यों, दानवों और राक्षसों से भी उनकी बजी थी, पर असुरों से निपटने में उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरह से वे सभ्य थे। उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाए थे, महल बनाए थे, जल-स्थल पर अधिकार जमा लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों से आर्यों को कभी विशेष नहीं लड़ना पड़ा। ये जातियाँ अधिक शान्तिप्रिय थीं। विलासिता की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। काम देवता या कन्दर्प वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। ये लोग आर्यों से मिल गए थे। असुरों ने इनसे बदला लिया था। पर अन्त तक असुर विजयी नहीं हुए। उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।

लेकिन आम्र-मंजरी के साथ बिच्छू का सम्बन्ध अब भी मुझे चक्कर में डाले हुए है। पोथियाँ पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोक-प्रवादों को हँसकर उड़ा देने की शक्ति अभी सञ्चय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादों में मनुष्य-समाज का जीवन्त इतिहास सुरक्षित है। जब कभी लोक-परम्परा के साथ किसी पोथी का विरोध हो जाता है तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नई बात सूझती नहीं; पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पण्डितों की बात में मुझे असंगति दिख जाती है। कहने में हिचकता हूँ, नये पण्डितों के क्रोध से डरता हूँ, पर मन से यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पण्डित की बात की संगति लोक-परम्परा से ही लग सकती है। कहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो। एक उदाहरण दूँ।

क्षेमेन्द्र बहुत बड़े सहृदय और बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने बहुत-सी पोथियाँ लिखी हैं। एक का नाम है 'औचित्य-विचार-चर्चा'। उसमें उन्होंने संज्ञा शब्दों के औचित्य के प्रसंग में कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राजा ने विरहातुर अवस्था में कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओं के लिये मचल पड़नेवाला पञ्चबाण कामदेव) मेरे चित्त को छलनी किए डालता है, अब मलय-पवन से आन्दोलित इन आम्र वृक्षों ने अंकुर दिखा दिए। अब तो बस भगवान् ही मालिक हैं—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥

अब सहृदय-शिरोमणि क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यह कामदेव को पञ्चबाण कहना उचित ही हुआ है। कामदेव के पञ्चबाणों में एक तो यही आम्र-मंजरी का अंकुर है। लेकिन मैं बिल्कुल उल्टा सोच रहा हूँ। मैं कहता हूँ, पञ्चबाण कहने से ही तो आम्रकोरक भी कह डाले गए, फिर दुबारा उनकी चर्चा करना कहाँ संगत है? मैं अगर अच्छा पण्डित होता तो क्षेमेन्द्र की भी गलती निकालता और कालिदास का भी अनौचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेद के साथ कहता हूँ कि मैं 'अच्छा' पण्डित नहीं हूँ। मेरा मन पूछता है कि क्या कालिदास आम्र-मुकुलों को मदन देवता के पाँच बाणों में नहीं गिनते थे? वैसे तो संसार के सभी फूल मदन देवता के तूणीर में आ ही सकते हैं पर कालिदास के युग में लोक-

प्रचलित कोई विश्वास ऐसा अवश्य रहा होगा कि आम पाँच बाणों से अतिरिक्त है। ऐसा न होता तो कालिदास इस श्लोक में 'पञ्चबाण' शब्द का प्रयोग न करते। सबूत दे सकता हूँ। पर सुनता कौन है ? कालिदास ने एक जगह आम्र-कोरकों को यह आशीर्वाद दिलाया है कि तुम काम के पाँच बाणों से अभ्यधिक बाण बनो। इस 'अभ्यधिक' शब्द का अर्थ करने में ऐसी रस्साकशी करनी पड़ी है कि कुछ मत पूछिए। सीधा अर्थ तो यही मालूम होता है कि पाँच से अधिक छठा बाण बनो। पर पण्डित लोग कहते हैं कि इसका सही अर्थ यह है कि पाँचों में सबसे अधिक तीक्ष्ण। होगा बाबा, कौन झमेले में पड़े। क्या अतीत के अन्धकार में झाँकने से कुछ दिख नहीं सकता ? मदन देवता हमारे साहित्य में कब आए और उनके बाणों का भी क्या कोई इतिहास है ? और फिर बिच्छू से इसका कोई नाता-रिश्ता भी है क्या ?

पुराणों की गवाही पर मान लिया जा सकता है कि असुरों की आखिरी हार अनिरुद्ध और ऊषा के विवाह के अवसर पर हुई थी। असुरों की ओर से भगवान् शंकर का समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्ण से गुँथे थे, प्रद्युम्न अर्थात् काम देवता स्कन्द (देवसेनापति) से। शिवजी के दल में भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, बेताल थे, विनायक थे, डाकिनियाँ थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे—यानी पूरी सेना थी। साँप-बिच्छू भी रहे ही होंगे। और तो और, मैलेरिया का बुखार भी था। इस लड़ाई में असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। देवताओं के दुर्धर्ष सेनापति को कामावतार प्रद्युम्न से हारना पड़ा। बिचारे मोर-समेत भाग खड़े हुए। भागवत में यह कथा बड़े विस्तार से कही गई है। इसके बाद इतिहास में कहीं असुरों ने सिर नहीं उठाया। शिवजी की सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्न ने आम्रकोरकों का बाण सन्धान किया और बिचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहास में दबी रह गई। लेकिन लोग जान गए हैं और बच्चों की दुनिया को भी पता लग ही गया है।

मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। फूल तो दुनिया में अनेक हैं। आम, लेकिन, फूल की अपेक्षा फल रूप में अधिक विख्यात है। कवि लोगों की बात छोड़िए। वे लोग कभी-कभी बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बोलते ही हैं। अपने भीतर जरा-सी सुड़सुड़ी हुई नहीं कि समझ लेते हैं कि सारी दुनिया इसी प्रकार पागल हो गई है। हम लोग भी जानते हैं कि आम की मंजरी मादक होती है लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार-मंजरी के केसर से मूर्छमान हो और

मधुपान के लिये व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे वसन्त में किसके चित्त में उत्कण्ठा नहीं लहरा उठती ?—

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा ?

अब, अगर किसी सभा में आप यही सवाल पूछ बैठें तो प्रायः सौ फी सदी भले आदमी ही 'मम' 'मम' कहकर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनी ही कहे जायगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखाकर अगर आप पूछें कि इसे पाने की उत्कण्ठा किसे नहीं है तो सारी सभा चुप रहेगी। सब मन ही मन कहेंगे, ऐसा भी पूछना क्या उचित है ? आम देखकर किसका जी नहीं ललचाएगा ? एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ चीन गये थे। उन्हें आम खाने को नहीं मिला। उन्होंने अपने एक साथी से विनोद में कहा—'देखिए, मैं जितने दिन तक जिऊँ उसका हिसाब कर लेने के बाद उसमें से एक साल कम कर दीजिएगा। क्योंकि जिस साल में आम खाने को नहीं मिला उसको मैं व्यर्थ समझता हूँ।' अब तक यह रिपोर्ट नहीं मिली कि किसी कवि ने आम्र-मंजरी की सुगन्धि न पाने के कारण अपने जीवन के किसी वर्ष को व्यर्थ समझा हो। तो मेरा कहना यह है कि आम के फूलों का वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिए। अरविन्द का हो, अशोक का हो, नवमल्लिका का हो, नीलोत्पल का हो। इनमें फल या तो आते ही नहीं या आते भी हैं तो नहीं आने के बराबर। ये काम देवता के अस्त्र बन सकते हैं; क्योंकि ये अप्सरा-जाति के पुष्प हैं। इनका सौन्दर्य केवल दिखावे का है। काम देवता के ये दुलारे हो सकते हैं। पर आम को क्यों घसीटते हो बाबा ? यह अन्नपूर्णा का प्रसाद है। यह धन्वन्तरि का अमृत-कलश है। यह धरती माता का मधुर दुग्ध है।

मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फल को कोई व्यवहार में ही नहीं लाता था। सम्भवतः यह भी हिमालय के पार्वत्य देश का जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक और दिगन्त को मूर्छित कर देने वाला आमोद ही लोक-चित्त को मोहित करते थे। धीरे-धीरे यह फल मैदान में आया। मनुष्य के हाथ रूपी पारस से छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। गङ्गा की सुवर्णप्रसू मृत्तिका ने इसका कायाकल्प कर दिया है। मैं आश्चर्य से मनुष्य की अद्भुत शक्ति की बात सोचता हूँ। आलू क्या से क्या हो गया, बैंगन कंटकारी से वार्ताकु बन गया। आम भी उसी प्रकार बदला है। न जाने मनुष्य के हाथों से विधाता की सृष्टि में अभी

क्या-क्या परिवर्तन होनेवाले हैं। आज जो दुर्भिक्ष और अन्न-संकट का हाहाकार चित्त को मथ रहा है वह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उस पर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थों को उसने व्यवहार्य बनाया है, कितनी खटाई उसके हाथों 'अमृत' बनी है। कौन जाने यह महान् 'गोधूम' लता (गेहूँ) किसी दिन सचमुच गायों के लगनेवाले मच्छरों को भगाने के लिये धुआँ पैदा करने के काम आती हो? निराश होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्व का दुर्जय प्राणी है।

हाँ, तो उसी बहुत बहुत पुराने जमाने में गन्धर्व या (जैसा कि इसका एक दूसरा उच्चारण संस्कृत में प्रचलित है) कन्दर्प देवता ने अपने तरकस में इस बाण को सजाया था। कवियों को उसी आदिम काल का सन्देश वसन्त में सुनाई देता है। लोग क्या गलत कहा करते हैं कि 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि'। किस भूले युग की कथा वे आज भी ढोए जा रहे हैं? कालिदास जरूर कुछ झिझके थे। शायद उनके जमाने के सहृदय लोग आम को अरविन्द, अशोक और नव-मल्लिका की पङ्गत में बैठाने में हिचकते थे। अच्छा करते थे। वात्स्यायन काम-शास्त्र में जहाँ आम और माधवी लता के विवाह के विशुद्ध विनोद का उत्सव सुझा गए हैं, वहाँ नवाम्रखादनिका या आम के नये टिकोरों को खाने के उत्सव को भूले नहीं हैं। आम की मंजरी विधाता का वरदान है पर आम का फल मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। मनुष्य प्रकृति को अनुकूल बना लेनेवाला अद्भुत प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्य-जनक है पर इसको समझने के लिये प्रयत्न करने वाला और इसे करतलगत करने के लिये जूझने वाला यह मनुष्य और भी आश्चर्यजनक है। आम्रमंजरी उसी अचरज का सन्देश लेकर आई है। 'उदुमङ्गल तुमं पसाएमि' !!

साहित्य का मर्म

हजारी प्रसाद द्विवेदी

अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने दिखाया था कि उत्तरकालीन संस्कृ
लक्षण ग्रंथ किस विशेष परिस्थिति में बने थे और उस युग के काव्य में उक्ति
वैचित्र्य और वचनवक्रिमा को क्यों इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था
मैंने यह भी बताने का प्रयत्न किया था कि आधुनिक युग में पाठक भी बद
गया है और कवि भी बदला है। यन्त्र-युग की समस्याएँ और तरह की हैं, औ
उनके समाधान के रास्ते भी हू-ब-हू वहीं नहीं हैं जो पूर्ववर्ती युग के थे। जमान
बदल गया है, हमारी आवश्यकताएँ बदल गई हैं, हमारी रहन-सहन बदल ग
है और इन सब के साथ ही साथ हमारा दृष्टिकोण भी बदल गया है। परन्
संस्कृत के लक्षण ग्रंथों ने जिस आदर्श का प्रचार किया वह परवर्ती स्तब्धवृत्ति
मध्ययुग में बराबर प्रेरणा देता रहा। हमारे विद्यार्थी के चित्त में ये लक्षण ग्रं
और काव्य एक विशेष प्रकार का संस्कार पैदा करते हैं। आधुनिक युग के स
प्रयत्न उस संस्कार के द्वारा ठीक-ठीक समझे नहीं जा सकते। काव्य में वैयक्ति
स्वाधीनता का प्रवेश हुआ है पुरानी कर्म-व्यवस्था का निर्गमन हुआ है, गो
बधुओं की प्रेम लीलाओं ने कवि को आंतरिक निजी अनुभूतियों के लिये स्था
छोड़ दिया है, छन्दों में स्वच्छन्दता आई है और सबसे बड़ी बात यह हुई है कि
उपन्यास, कहानी आदि नये नये साहित्यांग पैदा हुए हैं जो पाठक को काव्य से
अधिक प्रिय हो गए हैं। छापे के मशीनों ने उनका उत्पादन बढ़ाया है औ
यतायात के विकसित साधनों ने उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाया है। कवि के लि
कीर्ति पाने का रास्ता राजसभा में काव्यपाठ करना और प्रतिद्वन्दी को पछाड़ना
नहीं रह गया है, छपे हुए अक्षरों को मौन पाठकों को आंखों तक पहुँचाकर उनके
दिल में घर बनाना हो गया है। काव्य का क्षेत्र संकुचित हो गया है, उपन्यास
और कहानियों का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। काव्य को न तो अब वाक्पाटव क
कला माना जाता है न गोष्ठी-विहारों में मनोरंजन करने का साधन। भरत से भ
पहलेसे श्रृंगार को मुख्य रस माना जाता था, यह बात आज भी कवि को स्वीकृत है
परन्तु रस ध्वनि की अपेक्षा वस्तु ध्वनि के आस्वादन में पाठक को कम आनन्द
नहीं मिलता और इसीलिये वस्तुध्वनि का जोर बढ़ रहा है। उत्तर काल का संस्कृ

कवि राज्यदरबार की ओर अधिकाधिक झुकता गया और इसका फल यह हुआ कि कविता में वाग्पटुता को ही अधिक स्थान मिलने लगा और बृहत्तर सामाजिक चेतना की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कविता की सहज और शक्तिशाली अन्तर्धारा तथाकथित सामन्त सभ्यता की बालुका के नीचे अविरल भाव से बहती गई। अन्त में नतीजा यह हुआ कि वास्तविक जीवन्त रस धारा कबीर और सूरदास और तुलसीदास को आश्रय करके अत्यन्त स्वस्थ और मनोरम रूप में प्रकट हुई। संस्कृत के लक्षण ग्रंथों की प्रेरणा भी जीती रही पर वह महत्त्वहीन हो गई।

परन्तु मुझे खेद है कि मैंने अपने उस वक्तव्य में अपने साहित्य की दुर्बलता की ओर ही आपका ध्यान अधिक आकृष्ट किया था। मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के अत्यन्त महिमामय रूप की ओर से आंख मूंदना नहीं था, मैं केवल उस तथ्य की ओर आपकी दृष्टि फेरना चाहता था जिनकी यदि ठीक ठीक जानकारी न हो और जिन्हें यदि विवेकपूर्वक ग्रहण न किया जाय तो वे हमारे विद्यार्थियों में काव्य के उपकरणों को ही काव्य समझने की आदत डाल देंगे और डाल देते हैं। फिर भी मुझे इस बात से दुःख हो रहा है कि हमने अपने देश के महाकवियों द्वारा निरन्तर उद्घाटित और प्रचारित पूर्ण सत्य की बात न करके, दरबारी कवियों द्वारा प्रचारित खण्ड सत्य पर ही अबतक आपकी दृष्टि को उलझा रखा था। मैं भी जानता हूँ और आप भी जानते हैं कि हमारे पुराने साहित्य का चरम लक्ष्य खण्ड सत्य कभी भी नहीं रहा है। बाल्मीकि या व्यास, या कालिदास मनुष्य की महिमा के प्रचारचक थे, उसकी दुर्बलता के नहीं और न उसकी उस सहजात पशुसुलभ मनोवृत्ति के, जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती है। भारतीय साहित्य ने "जीवशास्त्रीय" समझी जानेवाली उस लालसा को प्राधान्य नहीं दिया जो समस्त जीवों की स्थिति के प्रयोजन की पूर्ति करती है। इस लालसा से अतिरिक्त, प्रयोजनातीत, सत्य को ही उन्होंने मनुष्य का अपना 'सत्य' समझा था। प्रेम, संयम और तप से उत्पन्न होता है, भक्ति साधना से प्राप्त होती है, श्रद्धा के लिये अभ्यास और निष्ठा की जरूरत होती है, ये पशुसुलभ आदिम मनोवृत्तिबों की उपज नहीं है। वाल्मीकि को जब छन्दः-सरस्वती का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें सबसे बड़ी चिंता यह हुई कि किस प्रकार इसमें महान् चरित्र की आवतारणा की जाय—ऐसा महान् चरित्र, जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में उतरा न उठे, विजय-दर्प के समय क्षमा करना न भूले, शक्ति पाने पर सदय होने में न चूके और जीवन के उपरले स्तर की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के गम्भीर तल में बहनेवाली

चरितार्थता की धारा को न भूल जाय। कालिदास ने मदन-वैभव और अकाल बसन्त की समस्त आकर्षक मोहकता को वैराग्य के एक भ्रूभङ्ग में धूलिसात् करा दिया और फिर तपस्या की आंच में तपाकर प्रेम के कुन्दन को चमकाया। सीता, पार्वती और राधिका भारतीय कवि की आदर्श कल्पना हैं। सबको तपस्या की आँच में तपना पड़ा है, सब को दुःख और वेदना के मरुकान्तार को पार करना पड़ा है और तब जाकर भारतवर्ष के सहृदय ने उन्हें देवता के आसन पर बैठाया है। संयम बड़ी वस्तु है, तपस्या बड़ी वस्तु है। क्षणिक आवेग, सामयिक उन्माद, अधीर विनिवेदन तबतक भारतीय कवि के चित्त को मुग्ध नहीं करते जब तक वे संयम तप और भक्ति में स्नान करके पवित्र न हो गए हों। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन केवल खण्ड सत्य था। कवि ने उस अभिशप्त प्रीति को विजयी नहीं होने दिया है। विजयी हुआ है वह प्रेम जो जीवन रस में पूरी तरह परिपक्व होकर निकला है। कल इस अपूर्व मोहक लोक में आपको न ले जाकर मैं जो खण्ड सत्य के ढूहों में भटकाता रहा वह यद्यपि अकारण नहीं था तो भी मेरे मन में यह कचट रह गई है कि मैंने एकांकी परिचय देकर अपराध किया है। भारतवर्ष के कवि ने जिस सौंदर्य-लक्ष्मी की सृष्टि की वह अपूर्व है। जिन्होंने इस देश में जन्म लिया है वे यदि इस पर मुग्ध हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर जो लोग इस देश से हजारों कोस दूर रहते हैं और संयोग से इस सौंदर्य-लक्ष्मी की एक हल्की झांकी पा गए हैं वे भी इसे देखकर कृतकृत्य हुए हैं; उन्हें भी अपनी आंखों की सफलता पर गर्व हुआ है और वे इसे अधिकाधिक पा सकने में प्रयत्नशील हुए हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के पुरूरवा की भांति इस महनीयरूपा सौंदर्य-लक्ष्मी को देखकर कहने की इच्छा होती है :

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः॥

संस्कार बड़े प्रबल होते हैं वे विवेक को प्रायः ही दबोचते रहते हैं। भारतीय सहृदय एक प्रकार के संस्कारों में पलता है और दूसरे देश के सहृदय दूसरे प्रकार के। जो काव्य-लक्ष्मी इन संस्कारों को दबा सके उसमें प्राण शक्ति का अपूर्व विलास मानना चाहिए। कभी कभी अच्छे सहृदय भी अपने बद्धमूल संस्कारों से काव्य-सौंदर्य को परखने का प्रयत्न करते हैं और द्रष्टव्य को छोटा करके

देखने में रस पाते हैं। एक उदाहरण दूं। आप सभी जानते हैं कि दीर्घकाल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किए का फल जरूर भोगना पड़ता है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे बच सकना संभव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है वह पूर्व जन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म में जो पुण्य या पाप करेगा उसे भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतवर्ष के साहित्य पर पड़ा है। इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी जिसे पश्चिम के साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोह-भावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू कवि इस जगत् के समस्त विधान को सामंजस्यपूर्ण और उचित मानता था। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है। साहित्य में इसीलिये 'रिवोल्ट' (विद्रोह) नामक वस्तु का यहाँ एकदम अभाव है। मैं यहाँ यह नहीं बताना चाहता कि प्राचीन भारतीतों का ऐसा विश्वास ठीक था या गलत था। मैं यह भी नहीं कहने जा रहा हूँ कि 'रिवोल्ट' का होना वांच्छनीय है या अवांच्छनीय। यह सब अवान्तर प्रसंग हैं। यथा अवसर मैं इसकी चर्चा करूँगा। यहाँ मैं केवल संस्कारों की प्रबलता और तज्जन्य सांस्कृतिक मनोद्वंद्व का एक उदाहरण आप के सामने रख रहा हूं। यह समझना आसन है कि कर्मफल की अवश्य-प्राप्यता में विश्वास करनेवाला नाटककार जगत् की समंजस व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि धर्मात्मा को पापात्मा से कभी पराजित होता न दिखाया जाए और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पाए।

यह विश्वास भारतीय नीतिशास्त्र के मूल में है और भारतवर्ष के समस्त प्रयत्नों को इस नैतिक आदर्श के अनुसार रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसलिये भारतवर्ष में उस श्रेणी के नाटक या आख्यायिका या काव्य नहीं लिखे गए जिन्हें 'ट्रैजेडी' कहते हैं। परन्तु यदि एक बार मनुष्य के मानसिक आवेगों और संवेगों की दृष्टि में रखकर विचार करें तो एक दूसरी सच्चाई भी सामने आती है। मनुष्य के अनेक मानसिक संवेग (इम्पल्स) जो एक दूसरे के विरुद्ध जाते हैं, या एक दूसरे को क्षीण-बल करते रहते हैं कलाकार के संवेदनशील चित्त में युगपत् उत्थित होते हैं। हमारे देश के अलंकार-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं, रस की

अनुभूति में ये सब समय बाधक ही होते हैं। इसीलिये इनमें किसी एक को या तो अंग बनकर गौण हो जाना चाहिए या आश्रय का भेद दिखाकर रसबोध के मार्ग को निष्कंटक कर देना चाहिए। लेकिन यह तो इसपर से अनुमान कर ही लिया जा सकता है कि आश्रय के चित्त में न सही; कवि के चित्त में ऐसे ऐसे विरुद्ध भाव एक साथ आ जाते हैं कवि या कलाकार के चित्त में ये परस्पर-विरुद्ध भाव अपने विरोधी स्वभाव को छोड़कर बने रहते हैं और अवसर पाकर जब कला के माध्यम से प्रकट होते हैं तो श्रोता के चित्त में विचित्र सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। तरस खाना और करुणार्द होना विषय के प्रति अभिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा चित्त उस वस्तु की ओर अभिमुख होता है जिसे देखकर ये भाव उदित हुए थे। विभीषिका और त्रास प्रतिमुखी-करण के संवेग हैं, इनके द्वारा मनुष्य विषय की ओर जाना नहीं चाहता बल्कि उसे दूर छोड़कर मुंह फिरा लेना चाहता है। दुःखान्त नाटकों में ये दोनों भाव एक साथ काम करते रहते हैं। हमारे देश का आलंकारिक निश्चित रूप से कहेगा कि इनमें दोनों समान शक्तिशाली नहीं हो सकते, एक अंगी होकर रहेगा, दूसरा अंग; या फिर दोनों तुल्यबल हुए तो रसबोध को ही मार डालेंगे। परन्तु ट्रेजेडी के पश्चिमी आलोचक मानते हैं कि ये दोनों संवेग श्रोता के चित्त में एक साथ वर्तमान रहते हैं और एक ऐसे अलौकिक आस्वाद को उत्पन्न करते हैं जो साधारण जीवन के अनुभवों से हू-ब-हू नहीं मिलते। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि हम दो कौशलों से उन मनोवेगों को तरह दे जाते हैं जिनसे हैरान होने की आशंका होती है—दमन से और उन्नयन से। ट्रैजेडी की महिमा इस बात में है कि वह इन दोनों से हमें मुक्त रखती है। कठिनाई या तो मनोभावों के दमन से पैदा होती है या उनके उन्नयन से। सफलता मिलने के समय मनुष्य न तो किसी मनोभाव का दमन करता है न उन्नयन। सफलता-जन्य संतोष इस विश्वास का फल है कि स्नायुमंडल ठीक है, कहीं कोई आयास नहीं करना पड़ा है। आधुनिक सौंदर्य शास्त्री ट्रैजेडी को सर्वप्रेरक और सर्वग्राह्य वस्तु मानते हैं क्योंकि वह दो परस्पर विरुद्ध मनोभावों का सन्तुलन ठीक रखकर आश्चर्यजनक सामंजस्य उत्पन्न करती है।

ये दो दृष्टियाँ हैं। एक समाज की समंजस व्यवस्था को अनालोडित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गई है और और दूसरी व्यक्ति-मानव के मनोवेगों का निरीक्षण करके उपलब्ध की गई है। किसीकी महिमा अस्वीकार नहीं की जा सकती। अस्वीकार करने के लिये

अधिक से अधिक धीर विवेचना और मानसिक संयम की आवश्यकता है। भारतीय कवि ने अपने विश्वासों के अनुसार जगत् के समंजस विधान में संदेह करना उचित नहीं समझा। अपने लिये उसने आत्मनिर्मित अनेक बंधन स्वीकार कर लिए। इन बंधनों के भीतर उसने जो रस सृष्टि की उसे अन्य देश और अन्य काल के संस्कारों के चश्मे से देखने से हम उसका सौंदर्य नहीं उपलब्ध कर सकेंगे।

समूचे भारतीय काव्य में—नितान्त अधुनिक काल को छोड़कर—कवि ने अपने को सदा निर्लिप्त द्रष्टा बनाए रखा है, वह चीज जिसे वैयक्तिक स्वाधीनता कहते हैं, जिसमें कवि हर द्रष्टव्य को अपने अनुराग-विराग में डुबोकर देखता है, आनुनिक युग की उपज है। यह बात इस देश में नई है। भारतीय कवि को समझना हो तो भारतीय संस्कारों को समझ लेना चाहिए नहीं तो गलती हो सकती है। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान श्री ए० वी० कीथ ने भारतीय नाटकों की अलोचना के सिलसिले में एक जगह लिखा है, "मानव जीवन के गभीरतर प्रश्नों के लिये कालिदास ने हमारे लिये कोई संदेशा नहीं रख छोड़ा है और जहाँ तक हम देख सकते हैं ऐसे गभीरतर प्रश्नों ने उनके मस्तिष्क में कोई सवाल भी नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों में जिस ब्राह्मण धर्मानुमोदित समाज-व्यवस्था की स्थापना की थी उसमें वे (कालिदास) पूर्णतया संतुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने कभी उन्हें उद्विग्न नहीं किया। शकुन्तला नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि वह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया में चलता फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का प्रयत्न करता है और न उसका समाधान ही खोज निकालने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्त्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाए हैं और उस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है पर उनके ग्रंथों से भी इसी नियम का प्राबल्य दिखाई देता है, कि सब कुछ का अंत सामंजस्य में ही होना चाहिए। ब्राह्मण्य-धर्मानुमोदित जीवन संबंधी सिद्धांतों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी संकीर्णता ला दी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है। यही नहीं, ब्राह्मण धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही "चण्डकौशिक"-जैसे नाटक लिखे जा सके हैं जहाँ एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न ऋषि विश्वामित्र की विक्षिप्त जनोचित प्रतिहिंसा से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।"[१]

---

[१] ए० वी० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २८०।

यह उद्धरण किसी उत्साही ईसाई धर्म-प्रचारक की पुस्तक से नहीं लिया गया है। श्री कीथ विचारशील पंडित हैं। भावावेग से वे चलित नहीं होते। कई बार उन्हें भारतीय सभ्यता के उत्साह-परायण विरोधियों से लोहा लेना पड़ा है। उन्हें यूरोपीय पंडितों के चित्त से अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर करने का श्रेय प्राप्त है। इसलिये यह उद्धरण यों ही टाल देने लायक नहीं है। इसमें जिन बातों को छोटा दिखाने का प्रयत्न किया गया है उसे छोटा दिखाने के लिये बृहत्तर नैतिक पट-भूमिका पर रखना उचित था। यदि उस बृहत्तर पटभूमि पर कालिदास या वाल्मीकि सचमुच छोटे दिखें तो अवश्य छोटे ही हैं, पर बात ऐसी नहीं है। इस प्रसंग में लेखक ने अपने संस्कारों के चश्मे से देखने की गलती की है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने जो बातें कही हैं वे गलत हैं। गलत है उनकी दृष्टिभंगी। सचाई गलत ढंग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षणभंगुर है इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है, और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभात हो रही है, वह जीवन के गभीरतर कहे जाने वाले प्रश्नों की बात मानता ही कहाँ है कि उसका उत्तर देता फिरे? उसके मन से तो जीवन के गभीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे आजकल जीवन कहा जाता है वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्मबंध के भोग के लिये एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्मप्रपंचमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्याएँ जीवन के गभीरतर प्रश्न तो हैं ही नहीं उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख-स्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है।, मनोविनोद के लिये इस चिंता को थोड़ी देर के लिए मान लिया जा सकता है, पर संपूर्ण भारतीय साहित्य इसे इतने से अधिक महत्त्व नहीं देता। वास्तविक और गहन प्रश्न है इस लोक से बाहर का। भारतवर्ष का कवि उस पर ही दृष्टि जमाता है। जो लोग इसीमें उलझे हुए हैं उन्हें देखकर उसे आश्चर्य होता है। भला,

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम्।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणां न किं विस्मयकारि चेष्टितम्?

वस्तुतः यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतवर्ष के इन चिरसंचित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना

चाहिए। जब हम देश और काल के इन विश्वासो को ठीक-ठीक समझ लेंगे तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाविल रसरूप का परिचय पा सकेंगे। श्री कीथ जैसे विद्वान् को भी जब हम विचलित होते देखते हैं तो लगता है कि अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। एक क्षण के लिये सोचिए कि यदि आप भी ग्रीक ट्रेजेडी को उसी प्रकार भारतीय वेदान्त के संस्कारों के चश्मे से देखें तो आलोचना कैसी होगी ? मैं समझता हूँ वह कुछ इस प्रकार की होगी—

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन का गभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय 'सत्' है जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज-सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आई ही नहीं। ट्रेजोन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गए वे कभी भी जीवन के वास्तविक गांभीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे और उन्हींके आदर्श पर लिखे गए उन्तरकालीन अंगरेजी नाटक, एक ऐसे उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे जहाँ पर पद-पद पर परस्पर विरुद्ध जाने वाले कर्त्तव्यद्वंद्व उन्हें सताते रहे और अंत तक वे किसो सामंजस्य मूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लग सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृंखल बना दिया है, इस बात को यूरोपियन नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है," इत्यादि इत्यादि।

कहना बेकार है कि इस प्रकार आलोचना से हम ग्रीक साहित्य के सौंदर्य को खो देंगे और फिर कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि हम अपने वेदांती विश्वासों के प्रति पूर्ण ईमानदार नहीं हैं। सचाई भी गलत ढंग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है।

फिर, जीवन के गभीरतर समझे जानेवाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है। अत्यन्त हाल में जड़ विज्ञान की उन्नति के साथ साथ मनुष्य की दुनिया छोटी हो गई है। यंत्रों के आविष्कार ने जहाँ जीवन की ऊपरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रचुर उत्पादन की व्यवस्था की है, वहाँ उससे वितरण और उपयोग की उतनी ही अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकी है। क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में चले गए हैं, उनके हाथियाने में जिस बौद्धिक कौशल की आवश्यकता है, वह मनुष्य अनायास ही उचित अवसर मिलने पर पा जाता है। परन्तु उससे उत्पादित सामग्री को सब तक पहुँचा कर, सब के साथ मिलकर भोगने में जो मानसिक औदार्य और बौद्धिक निर्लिप्तता आवश्यक है, वह उतनी आसानी से नहीं मिलती। पहली मनोवृत्ति छीन-झपट

कर अपना स्वार्थ साधन करने के कौशल को प्रश्रय देती है, इसे मनुष्य ने अपने पूर्वज पशुओं से विरासत के रूप में पाया है। दूसरी मनोवृत्ति में आत्म-त्याग पर-दुःख-संवेदना और मनुष्य की चरम एकता के भाव हैं, जो संस्कार और साधना की अपेक्षा रखते हैं। पहली मनोवृत्ति ने शोषकों का दल पैदा कर दिया है परन्तु दूसरी मनोवृत्ति अब भी अत्यंत शिशु रूप में है। इस नई अवस्था ने संसार के सामने सैकड़ों समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं। घिनौने युद्ध और भयंकर अकाल अब प्रकृति के कोप से नहीं होते मनुष्य की दुर्ललित वासनाओं के कारण हो रहे हैं। जीवन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस प्रकार झकझोर दिया गया है कि पुराने संचित संस्कार बुरी तरह झड़ गए हैं और एक दूसरे से उलझ गए हैं। मनुष्य ने इतने दिनों तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो मूल्य आँका था वह अधिकांश भहराकर चकनाचूर हो गया है। बहुत-कुछ टूट रहा है, बहुत कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं का समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता है, इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इसके समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो गया है। जहाँ विज्ञान ने ज्यादा पैर जमाया है, जहाँ व्यवसायमूलक क्रांति हुई है, अर्थात् जहाँ अवसर देखकर एक दल ने उत्पादन के साधनों को हथिया लिया है वहीं समस्याएँ सहस्रमुखी हो गई हैं। उन्होंने नाटक को ग्रस लिया है, काव्य को ग्रस लिया है और साहित्य को समझने की दृष्टि को भी ग्रस लिया है। पुराने भारतीय कवि की अपनी सीमाएं हैं, ग्रीक कवि की भी अपनी सीमाएं हैं। उन सीमाओं के भीतर उन्होंने कैसी रूप और रस की सृष्टि की है यही विचार्य है। आधुनिक समस्याओं का समाधान उनमें एकदम नहीं मिलेगा ऐसा तो नहीं है, परन्तु उत्तर सामान्य और व्यापक ढंग का होगा, विशिष्ट या शंकुभूत नहीं। क्योंकि जीवन की सभी समस्याएँ सामयिक ही नहीं है, कुछ दीर्घस्थायी भी हैं। पुराने लोगों ने भी कुछ का सामना किया था। उनके सभी अनुभव बासी नहीं हो गए हैं। प्रसिद्ध तंत्र-शास्त्रज्ञ सर जान वुडरफ़ ने एक बार बड़े अफसोस के साथ कहा था कि "साधारणतः यूरोपियन प्राच्यविद्या-विशारद गण और उनके वे भारतीय शिष्य जो उनकी ही अंगुली पकड़कर चला करते हैं कुछ ऐसे अवहेलामूलक विचारों का पोषण करते हैं कि भारतीय शास्त्र केवल ऐतिहासिक कुतूहल के विषय हैं। यही कारण है कि वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाते कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में भी आश्चर्यजनक साम्य मिलता है।"[1]

---

[1] 'क्रिएशन ऐज़ एक्सप्लेन्ड इन दि तंत्राज़'

इस प्रकार की सदोष दृष्टि का परिमार्जन वांछनीय है।

इस प्रकार की दृष्टि लेकर भारतीय साहित्य को देखनेवालों ने अनजान में इस देश में एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। इसी प्रतिक्रिया के कारण इस देश में उन अत्यन्त उत्साह-परायण समालोचकों का अविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओं का समाधान एक ही कसौटी पर कसके करने लगे हैं— 'हमारे यहाँ' ऐसा माना है, या 'हमारे यहाँ' ऐसा नहीं माना है। 'हमारे यहाँ' उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है जिससे किसी को भी धराशायी बनाया जा सकता है। 'पाश्चात्य विचार का प्रभाव' उनका ऐसा बहुधा विघोषित निंदा-वाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिये यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है। साधारणतः उपनिषदों के कुछ मंत्र या काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण के कुछ श्लोक पढ़कर ये लोग काव्यगत सौंदर्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का निर्णय किया करते हैं और उसके बाहर के किसी भी विचार को 'पाश्चत्य' कहकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह प्रायः ही भुला दिया जाता है कि "हमारे यहाँ' कोई छोटा-मोटा ज्ञान-रत्नाकार नहीं है। किसी एक ही विचार को भारतीय विचार कह देना न केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करना है बल्कि अपने देश की विशाल ज्ञान-परम्परा का अपमान करना भी है। न जाने इस "हमारे यहाँ" नामक समुद्र में कितने ज्ञान के रत्न और संस्कारों के नक्र-मकर भरे पड़े हैं। इसमें आत्मवादी हैं, अनात्मवादी हैं, वैराग्यमार्गी हैं, भोगमार्गी हैं, द्वैतवादी हैं, अद्वैतवादी हैं, शून्य-विश्वासी है, नियति-विश्वासी हैं। नाना मत-मनान्तरों के इस विशाल भांडार से ज्ञान के एकाध टुकड़े चुनकर उसीको संपूर्ण मनीषा की एकमात्र उपज मान लेना क्या उचित है? हमारे देश का इतिहास हजारों वर्षों की निरन्तर प्रवहमान विचारधारा से समृद्ध है। हमारे पूर्वजों ने अपने सुदीर्घ इतिहास में न जाने कितनी सामयिक परिस्थितियों से युद्ध किया है और कितने विकट प्रश्नों का समाधान खोजा है। वे परिस्थितियाँ समाप्त हो गईं, उन विकट प्रश्नों को उपस्थित करनेवाले घटनाचक्र महाकाल के रथचक्र के नीचे पिस गए, इतिहास की अनवरुद्ध धारा के वेग में उन प्रश्नों के सोचे समाधान भी समाप्त हो गए, केवल किनारों पर छिटक कर छूट गए कुछ ग्रंथ, कुछ शिला-लेख और कुछ अनुभव हमारे पास रह गए हैं। भारतीय विचार-धारा इन सबसे बड़ी वस्तु है। हमारा ज्ञान-भाण्डार केवल संयोगवश प्राप्त कुछ छिटके फुटके तालपत्रों और प्रस्तर खंडों की लिपियों तक ही सीमाबद्ध नहीं हैं। और कुछ थोड़े-से श्लोकों में उसे बाँधने का प्रयत्न तो एकदम हास्यास्पद है। ऐसा करने से

हम बृहत्तर मानवी दृष्टि की प्रतिष्ठा में बाधा खड़ी करते हैं। हमारे देश के मनुष्य भी बृहत्तर मानव-समाज के अंग हैं। हमारे पास जो कुछ भी साहित्य बच रहा है वह यद्यपि अत्यन्त कम है तो भी विशालता तथा गंभीरता में वह संसार का सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। उसमें हजार प्रश्नों के हजार उत्तर हैं! उनको निपुण भाव से परीक्षा करनेवालों ने देखा है कि भारतीय मनीषियों ने हर बात का मूल्य बृहत्तर नैतिक पटभूमिका पर रख करके ही किया है। काव्य का ही अगर प्रश्न लिया जाय तो हमारे देश के मनीषियों ने कभी भी उसे विश्वजनीन नैतिक पट-भूमि से निम्न स्तर पर रखकर विचार नहीं किया। आप उनसे सहमत हों या नहीं; यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को चारुता का विचार उन्होंने निम्नतर पटभूमि पर रख कर नहीं किया।

जहाँ तक केवल जीवन धारण करने का प्रश्न है, मनुष्य अपने प्रयोजनों से बँधा हुआ है। उसकी दुनिया प्रयोजनों की दुनिया है। परन्तु वह केवल जीवन धारण करने को, केवल किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नहीं समझता। वह अपने को नाना भाव से प्रयोजन के जगत् से बाहर भेजना चाहता है। वहीं उसका ऐश्वर्य है। पशु का जीवन केवल जीने के लिये है उसमें प्रेम नहीं है, सौंदर्य-प्रीति नहीं है, कुछ नई बात गढ़ने की इच्छा नहीं है। ये बातें मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य हैं, उसका प्रकाश है। जिस जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, सौंदर्य नहीं, वह जीवन पशु का जीवन है। मनुष्य उतने से संतुष्ट नहीं है। घी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है, उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उतने से ही संतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है। प्रयोजन के अतीत पदार्थ का ही नाम सौंदर्य है, प्रेम है, भक्ति है,—मनुष्यता है। जहाँ स्थूल जीवन का स्वार्थ समाप्त होता है वहाँ मनुष्यता प्रारंभ होती है। जीवन में जहाँ तक स्वार्थ है वहाँ तक वह लालसा के क्षेत्र में रहता है, जहाँ उसके ऊपर जाता है वहाँ वह 'प्रेम' के जगत में आता है। जीना ही केवल जीना थोड़े है—

कवि ठाकुर भोग संजोग सबै सुख जीजतु है पै न जीजतु है।
मनभावने प्यारे गुपाल बिना जग जीजतु है पै न जीजतु है॥

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। समस्या-समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। जब तक यह काव्य जीवन का अंग नहीं बन जाता तब तक मनुष्य दीन होता है, प्रकाशहीन होता है; पर काव्य का रस जब उसे मिलता है,

जब वह केवल प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है, जो उसके हृदय को संवेदनशील और उदार बनाती है। यह मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है। जीवन का यही काव्य नाना भाव से अपने को प्रकाशित करता है। काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य उस अपार भूमा का रस पाता है जो उसे प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से उठाकर असीम में प्रतिष्ठित करता है। तभी वह उपनिषद् के ऋषि की भाषा में कह उठता है—भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।

मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा अतिक्रम कर जाते हैं तो उनमें मनुष्य की विराट् एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वे किसी सीमा में आबद्ध न रहकर मनुष्य मात्र की संपत्ति हो जाते हैं। ताजमहल कुछ व्यक्तिगत प्रीति और कुछ समूहगत संस्कारों की बुनियाद पर खड़ा हुआ है परन्तु मानवमात्र को मुग्ध करने योग्य सुन्दर रूप में ढलने के बाद वह उस सीमा को अतिक्रम कर गया है। कोणार्क के मंदिर की जो लोग केवल यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि वह मूर्ति-पूजा को प्राश्रय देने वाली कला है वे संस्कृति के बहुत निचले स्तर पर भी नहीं पहुँच सके। वे उन बर्बरों के स्तर से बहुत ऊपर नहीं उठ सके जिन्हें कुफ्र दूर करने के लिये मंदिरों और मूर्तियों को ध्वंस किया था और प्रतिहिंसा से स्पर्द्धित होकर सुन्दर मकबरों में भूसा भरवा दिया था। आज के प्रजातन्त्र के युग में तुलसीदास को राजतंत्र का प्रचारक कहकर आसानी से फेंक दिया जा सकता है। ये लोग भूल जाते हैं कि जितना हिस्सा जलता है वह प्रकाश नहीं कहलाता। प्रकाश उससे अतिरिक्त वस्तु है। ताप केवल प्रयोजन है, प्रकाश उसका ऐश्वर्य है, उसका अतिरिक्त दान है। तुलसीदास का काव्य उस प्रयोजन से कहीं अधिक प्रकाश देता है जिसके लिए वह रचित हुआ था। वह राम नाम का प्रचारक है, पर इतना ही उसका परिचय नहीं है। वह मनुष्य के सुख दुःख को, आशा-आकांक्षा को उसके संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ प्रकट करता है। मनुष्य जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ महत् है, उसीका विजयोद्घोष करता है, वह उस मानवीय महिमा का प्रचारक है जो धर्म की कान्ति से मनोहर हो उठा है, वीरता के तेज से दीप्त हुआ है और सतीत्व की श्री से समृद्ध हुआ है। वह मानव-धर्म के जगद्विदित महामान से पूरा उतरता है, इसीलिये वह महान् है। जब-जब और जहाँ-जहाँ यह मनुष्यपन का ऐश्वर्य काव्य में, नाटक में, शिल्प में, चित्र में,

मूर्ति में अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वहीं-वहीं वह पूजनीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं ने देवता को मनुष्य बनाया है, मूर्तिकारों की छैनी ने पत्थर में प्राण संचार किया है और नगराय दारु-खण्ड को पूजार्ह बनाया है।

आज यदि आप संसार की सारी समस्याओं का विश्लेषण करें तो इनके मूल में एक ही बात पाएंगे—मनुष्य की तृष्णा! यह अद्भुत तृष्णा कहीं समाप्त होने का नाम नहीं लेती। मनुष्य में सर्वत्र अभाव भर गया है। जीवन की वह परिपूर्णता कम हो गई है जो मनुष्य को याचक न बनाकर दाता बनाती है। आज उत्पादन बढ़ाने की धूम है, जीवन का स्तर ऊँचा उठाने का संकल्प मुखर है परन्तु जीवन में वह उच्छलित आनन्द कैसे आएगा जो मनुष्य को संयत, संतुष्ट और वदान्य बना सके इसकी चिंता किसी को नहीं है। मैं भौतिक समृद्धि के प्रयत्नों को छोटा बनाने के उद्देश्य से यह बात नहीं कह रहा हूँ। उत्पादन का बढ़ाना आवश्यक है, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न भी श्लाघ्य है, पर इतने से समस्या का हल नहीं हो जाता। तृष्णा वह आग है जिसके पेट में जितना भी झोंक दीजिए सब भस्म हो जाएगा। उस वस्तु की खोज होनी चाहिए जो मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बाँधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करे। साहित्य और संगीत यही काम करते हैं, कला और सौंदर्य उसे इसी ओर ले जाते हैं। नितान्त उपयोगिता की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो मनुष्य समाज की स्थिति के लिये—सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिये ही—यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने उस महान् उन्नायक धर्म की उपेक्षा न करे जो उसे क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर उठाते हैं। भौतिक समृद्धि के बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिए पर उसे सन्तुलित करने के लिये साहित्य और संगीत आदि का भी बहुल प्रचार बांछनीय हैं। सो, प्रयोजनों की सीमा छोड़ कर, पशुसुलभ आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर उठकर ही मनुष्य उस महिमा को पा सकता है जो उसे देवता बनाते हैं। संक्षेप में इसी गुण को 'मनुष्यता' कहते हैं।

यह तो निश्चित है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नहीं रह सकता और न अपने देश और काल के सीमाओं से अस्पृष्ट रहकर ही कोई शिल्प सृष्टि कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित वाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भाववेग द्वारा कंपित

और आंदोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहा है। सब से अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और संमूर्तन तो हो सकता है पर आवेग का कम्पन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का 'छन्द' है—एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्यभंगिमा। वे कहानी की इस सीधी बात को कि एक था राजा' इतने सरल ढङ्ग से नहीं कहेंगे। कहेंगे—'घनदर्पकन्दर्पसौंदर्यसोदर्यरूपो भूपो बभूव।' यह भाषा ही छन्दोमयी है, इसमें छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास में यह आवेग कम होते हैं क्योंकि उनकी भाषा में गद्यात्मकता होती है परन्तु जहाँ कहीं भी उसमें आवेग का कंपन आता है वहीं प्रच्छन्न रूप में छंद भी विद्यमान रहता है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि आवेग-कंपित भाषा न होने के कारण मैं उपन्यास को कम महत्वपूर्ण साहित्यांग मानता हूँ। उपन्यास भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है जिस प्रकार काव्य। यहाँ पर मैं छन्द और प्रास की क्रिया तक ही अपने विचारों को केंद्रित रख रहा हूँ। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है, जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य में से अर्थ-प्रकाशक शब्द हटा दिये जायँ तो वह ध्वनि-प्रवाह संगीत बन जायगा। वस्तुतः अर्थहीन छन्दः प्रवाह संगीत ही है। संगीत में वाह्य जगत् की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आन्तर सत्ता से जो आवेग-कम्पित स्वर से प्रकाशित होती है कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर सङ्गीत है दूसरे पर गणित। सङ्गीत में जिसे स्वर कहते हैं वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द-प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह अपने आप ही स्पंदित होता है। ताल उसमें उसी प्रकार की अनुभूति-क्षमता भरता है जिस प्रकार छन्द आवेग में। काव्य द्वारा और सङ्गीत द्वारा स्पंदित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह वाह्य सत्ता से पूर्णतया

सम्बद्ध होता है, हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चलित होते रहते हैं। काव्य पाठक के सुख-दुःख का आवेग उत्पन्न करता है। मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख से प्रभावित होता है, उनके साथ उसकी समवेदना होती है और अन्त तक उस सुख दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-मनुष्य के भीतर वर्तमान एकत्व का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है।

कहते हैं, विभिन्न आवेगों से भिन्न भिन्न जाति और आकृति के कम्पन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं फिर भी सङ्गीत से उत्पन्न कंपनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती जितनी काव्य-जनित आवेगों के कंपनों से होती है। टोड़ी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना चित्त में उमड़ आती है वह विश्व-जनीन तो होती है। पर अवच्छिन्न या एब्सट्रैक्ट होने के कारण अनुभूति में वह सान्द्रता नहीं ले आ पाती जो काव्य के करुण रस से उत्पन्न होती है क्योंकि सङ्गीत की अनुभूति अहैतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृंखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्य-जन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग-चालित अवस्था में भी कार्य-कारण-शृङ्खला के प्रति आस्था बनाए ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता वहाँ देर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है। जिस काव्य में केवल शब्दालङ्कार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है वह बहुत कुछ उसी प्रकार की आसन्द्र-अनुभूति-जनक आवेग-कंपन उत्पन्न करता है जो सङ्गीत करता है पर उसमें सङ्गीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थ जगत् से सम्पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता; क्योंकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थभारहीन शब्दालङ्कार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं न सङ्गीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव भर उत्पन्न करते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ का भार बना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव में सङ्गीत की सहजगति भर देते हैं। परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधान-हेतुक दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस ले आते हैं, हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को, और क्रियाओं को

गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं पदार्थ के विशेषाधान-हेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारों से इस प्रकार संमूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अलंकार जब आवेग-सहचर होकर आते हैं तो काव्य में अत्यधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं पर जब आवेग-हीन होकर आते हैं तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम के काम की नहीं होती केवल अन्तर की चेतना पर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। रीति-कवि की अज्ञात यौवना नायिका ने जब अपनी दासी को ईख की दतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था तो उसकी सरलता ने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर के माधुर्य से दतुअन कहीं भी मीठी होकर ऊख-सी नहीं लगने लगती। इसलिये इस दोहे में मृदु कंपन उत्पन्न करने की शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूति प्रेरक नहीं हो पाया क्योंकि इस कंपन का हेतु बाह्यसत्ता से असंपृक्त होने के कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूति को गाढ़ रङ्ग ही देता है। दोहा इस प्रकार है—

अधर परसि मीठी भई, दई हाथ सो डारि।
लावति दतुअनि ऊख की, नोखी खिजमतिगारि॥

लेकिन प्रश्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगों को आनन्द देती ही है इसीलिये इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

अधर का माधुर्य एक श्रेणी की चीज़ है और चीनी का माधुर्य दूसरी श्रेणी की। चीनी के संस्पर्श से कोई वस्तु मीठी हो जाती है पर अधर के संस्पर्श से नहीं होती। होती भी हो तो उस व्यक्ति के लिये तो नहीं ही होती जिसके अधर में यह अद्भुत माधुर्य दिन-रात निवास करता है। किसी और के लिये उक्त अधर से स्पृष्ट वस्तु अमृत से भी मीठी हो जाती हो तो मैं आपत्ति नहीं करूंगा। कविता की चर्चा करते समय मुझसे इतना ठूंठ होने की आशा आप नहीं कर सकते। पर मेरी आपत्ति उसी व्यक्ति को दतुअनि के मीठी लगने पर है जो स्वयं उस माधुर्य का धनी है। इस प्रकार के चामत्कारिक उक्तियों के मूल में 'माधुर्य'—जैसे लाक्षणिक शब्द हैं। उर्दू का साहित्य इह प्रकार की उक्तियों का समुद्र ही है। सभी देशों में और सभी जातियों में ऐसे शब्द प्रचलित हैं जो अपने मूल अर्थ से खिसककर भी उससे मिलते जुलते अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। शब्दों में और अर्थों में संस्कार-समर्पित रूढ़ि पैदा होती है जो उस देश

और उस जाति के साहित्य के समझने के लिये अवश्य ज्ञातव्य होते हैं। उन रूढ़ियों को जाने बिना आप किसी साहित्य का रस नहीं ले सकते। रूढ़ि नितान्त निरर्थक नहीं होती, केवल काल प्रवाह में लुढ़कते आने के कारण उसके मूल अर्थ घिसकर अदृश्य हो गए रहते हैं। इन रूढ़ियों से शब्दों को, अर्थों को और आचारों को एक ऐसा मूल्य मिलता है जो लोककल्पित और अवास्तव होता है। ३१ बार तोप दगने के बजाय यदि राष्ट्रीय ध्वज के सम्मान के अवसर पर ३० बार या २६ बार बजता तो कुछ बन या बिगड़ नहीं जाता। परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों ने ३१ की संख्या को एक कल्पित मूल्य दे रखा है कि जो लोक चित्त में आवेग का कंपन पैदा करता है। अधर संस्पर्श से दुतुअन का मीठी हो जाना इसी प्रकार का कल्पित और अवास्तव अर्थ है पर वह भी एक श्रेणी के सहृदय के चित्त में आवेग का कम्पन उत्पन्न करता ही है। एक और सरस उदाहरण लिया जाय—

अति चाह भरी जमुना जल को बरजै पर हू नित ऐबौ करै।
सखि को सुख लाख सुनै न कछू अपनी कहि कै मुसुकैबौ करै।
दुति दूनी बढ़ाय 'गुलाब' खबै गुरु लोगन तैं न रुकैबौ करैं।
नव नागरि रूप उजागरि सो भरी गागरी क्यों। ढरकैबो करै।

इस पद्य में गागरी ढरकाने की जो चर्चा है उसका कारण यह है कि इस अज्ञात यौवना बालिका की आँखें हाल ही में मछली-जैसी हो गई हैं और बिचारी को शारीरिक परिवर्तन का एकदम पता नहीं है। जब जब वह भरी गागरी देखती है तब तब इन कम्बख्त आँखों की छाया पानी में पड़ जाती है और उसे भ्रम होता है कि पानी में मछली आ गई है और ढरका देती है। हर बार ही ऐसा होता है। कहना व्यर्थ है कि इस अर्थ में रूढ़ि द्वारा ही चमत्कार आया है। इस रूढ़ि को समझे बिना रसबोध नहीं हो सकता कि युवावस्था आने के समय किशोरियों की आँखों में मत्स्यधर्मिता आ जाती है।

अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करनेवाली सूक्तियाँ मनुष्य के चित्त में गुदगुदी जरूर उत्पन्न करती हैं, साहित्य में उनकी आवश्यकता भी होती है। इन सूक्तियों के सहारे कोमलीकृत चित्त में कवि सहज ही भावों को प्रवेश करा देता है। बृहत्तर मानव जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियाँ सहायक होती हैं परन्तु उससे विछिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। नाटक, काव्य और उपन्यास में बहुत उपयोगी होती हैं क्योंकि इनके बिना पाठक का चित्त भाव को ग्रहण करने में तत्परता नहीं दिखाता। श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' में एक

श्लोक है जिसमें कहा गया है कि वसन्त पहले लोगों के चित्त को कोमल बनाता है और उस कोमलीभूत चित्त में प्रेम का देवता आसानी से अपने फूल के बाणों को चुभो देता है :

इह पढमं महुमासो जनस्स चित्ताइँ कुणइ मिउलाइँ
पच्छा विज्झइ कामो लद्धप्पसरेहिँ बाणेहिँ ॥

भावों की सहायता के लिये सूक्तियाँ भी बहुत-कुछ वही काम करती हैं जो वसन्त प्रेम के देवता की सहायता के लिये करता है। छन्द इन सूक्तियों में गति देते हैं और अलंकार शोभा संचार करते हैं। पर सूक्तियाँ मनुष्य के मनोभावों में सहायक होकर ही सार्थक होती हैं।

केवल गतिमात्र आ जाने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता जो काव्य का प्रधान उद्देश्य है। गति तो जड़ पिण्डों में भी होती है। यह धरित्री खण्ड न जाने कब से गतिशील है लेकिन जड़ता उसकी गति में बाधा पहुँचाती हैं। जड़ पिंड घूम फिरकर एक ही स्थान पर आ जाता है, चेतन आगे निकल जाता है। वर्तुलाकार मार्ग गति में संचारित जड़ धर्म-जन्य बाधा का परिणाम है, वह पद पद पर बाधा पहुँचाता है और जड़ पिंड चक्करदार मार्ग में घूमने को बाध्य होता है। गति के साथ आगे बढ़ना भी आवश्यक है। इसी को 'प्रगति' कहते हैं। यह चेतन की अपनी विशेषता है। जब तक काव्यगत सूक्तियों में यह बात अर्थात् चेतनधर्म नहीं संचरित होता तब तक छन्द उनमें गति का वेग भर दे सकते हैं, प्रगति का उत्साह नहीं संचारित कर सकते। जो कवित्व मनुष्य को घुमा फिराकर जहाँ का तहाँ छोड़ देता है उसमें गति प्राणहीन होती है। कुछ प्राण भी चाहिए। केवल कहना तो कहना नहीं है, कहने की चरितार्थता इस बात में है कि मनुष्य को आत्मधर्म के प्रति सचेतन बनाए। जिस कहने से कहने वाले की वेदना प्रत्यक्ष न हो जाय, श्रोता का हृदय सहानुभूति से पूर्ण न हो जाय उसमें स्वाद क्या है भला!—

कवि बोधा कहे में सवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमैं पूरी लगी कि अधूरी लगी, यह जीव हमारोइ जानतु है।

जब कभी मुझे छन्द की, झंकार की और संगीत की इस प्रकार चर्चा करनी पड़ती है तभी हृदय के अन्तस्तल से यह ध्वनि निकलती रहती है—ततः किम्? छन्द की, झंकार की या संगीत की महिमा क्या बृहत्तर जीवन में भी कुछ संतुलन पैदा करती है या वे केवल शब्द और अर्थ के संबंधों को लेकर बौद्धिक कसरत करनेवाले कलाबाजों के आरोपित अवास्तव मूल्य के बल पर ही इतने

बड़े गौरव का मुकुट धारण किए हुए हैं? यह प्रश्न अनुचित नहीं है। क्योंकि जिससे जीवन को कुछ और ऊपर उठने की शक्ति न मिलती हो, नीचे की ओर गिरने से बचाव न होता हो वह वस्तु बहुत काम की नहीं हो सकती। जिससे हमारे बंधन शिथिल हों, पद-पद पर का विनिपात दूर होता हो वही काम की चीज है; नहीं तो बड़ा नाम देने से ही कोई चीज बड़ी नहीं हो जाती और हो भी जाय तो उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता—येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्?

वस्तुतः मनुष्य के चित्त को आवेग-कम्पित करनेवाला छन्द व्यक्ति विशेष की पृथभूता शक्ति का परिचायक नहीं है। मैंने शुरू में ही कहा है कि वह एक समूहगत शक्ति है, एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचारित करनेवाला महान् साधन है। ऐसा वह इसीलिये कर सकता है कि वह बृहत्तर जगत् की किसी ऐसी ही शक्ति का वागाश्रित मानवीय प्रतिनिधि है। जब वह मनुष्य के वाक्य को आश्रय करके प्रकट होता है तो उस वाक्य के पीछे रहनेवाले अर्थ को प्रयोजन की गुरुता से मुक्त करके भावलोक में ले जाता है। जब वह मनुष्य की देह को आश्रय करके प्रकट होता है तो इस देह में भी असाधारण ऐश्वर्य भर देता है, उस समय हम उसे नृत्य कहते हैं। छन्द भारसाम्य की रक्षा करता है, संतुलन नहीं बिगड़ने देता और नितांत गद्यात्मक प्रयोजनों के भारीपन से भाव को मुक्त करता है। मनुष्य के समाज को आश्रय करने पर यही छन्द धर्म के रूप में प्रकट होता है और सामाजिक संतुलन की रक्षा करता हुआ, आचार-परम्परा में अध्यात्म का ऐश्वर्य संचारित करता है। जिस समाज में छन्द नहीं उसमें संतुलन भी नहीं है और उसमें अध्यात्मभावना का अभाव हो जाता है। समूची सृष्टि में ही एक प्रकार छन्दोमयी गति है। काव्य का छन्द उस बृहत्तर सत्य के अनुरूप होने से ही महान् है, वह कलाबाजों द्वारा आरोपित काल्पनिक मुकुट पहनकर बड़ा नहीं हुआ है।

इस प्रसंग में मुझे कविवर रवींद्रनाथ की एक कविता का स्मरण होता है। आदि कवि को जब प्रथम बार छन्द का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें इस बात की बड़ी चिंता हुई कि किस प्रकार इस छन्द का—इस महान् साधन का—ऐसा उपयोग किया जाय कि मनुष्य प्रयोजन के गुरुभार से बचकर थोड़ा ऊपर उठ सके वह पृथ्वी में रहकर भी स्वर्ग का देवता बन सके। मनुष्य में जो क्षुद्र स्वार्थ हैं, संकीर्णताएँ हैं, प्रयोजन का बंधन है, वे सब उसे नीचे की ओर खींचते हैं। कुछ ऐसा होना चाहिए जो उसे भाव के स्वाधीन लोक में ले जा सके। आदि

कवि जब इसी प्रकार बेचैन घूम रहे थे उसी समय नारद को ब्रह्मा ने उनके पास भेजा। नारद और वाल्मीकि के मिलन में जो बातें हुईं वह काव्य के चिरन्तन सत्य को प्रकट करती हैं। मुझे खेद है कि कविवर रवींद्रनाथ की पूरी कविता इस समय नहीं सुना सकूंगा पर उसके एक अंश का स्खलित भाषान्तर मैं अवश्य सुनाना चाहता हूँ। उससे मेरा वक्तव्य अधिक स्पष्ट हो जायगा। वाल्मीकि ने नारद से कहा—

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढ़ बंध से, चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को ही घेर कर। अविराम बोझिल मानवीय प्रयोजनों से क्षीण हो आया गिरा का प्राण है, उसके परिस्फुट तत्त्व देते बांध सीमा में चरण को भाव के। इस धूलितल को छोड़ बिल्कुल ही न उड़ सकती नवल संगीत-सी उन अर्थ-बंधनहीन अपने सप्त स्वर के सप्त पंखों को अबाध पसार विपुल-व्योम में निर्द्वंद्व अपराधीन!

"प्रातःकाल की यह शुभ्र भाषा वाक्य-बंधन-रहित जो प्रत्यक्ष किरणें हैं कि वे क्षणमात्र में ही खोल देतीं है जगत् के मर्म मंदिर द्वार को, होता प्रकट त्रैलोक्य के नवगीत का भांडार और विभावरी आच्छन्न कर देती पलक गिरते अपार अनन्त जग को शान्ति की निज ललित भाषा से; कि उसका वाक्यहीन निषेध अपने मंत्रबल पर शान्त कर देता जगत् के खेद, दारुण क्लाति, कठिन प्रयास; क्षण में भेद जग के मर्म कोलाहल-जनित काठिन्य को, लाता विपुल आभास शामक मरण का नरलोक में। नक्षत्र की निश्चल गिरा निर्धूम अग्नि समान देती है स्वयं की सूचना ज्योतिष्क सूचीपत्र पर आकाश में; दक्षिण समीरण की गिरा केवल तनिक निःश्वास के बल पर जगाती है नवल आशा निकुंज-निकुंज में है पैठ जाती भेद दुर्गम दुर्ग पल्लवराजि का दुस्तर अरण्यन्तः पुरी में अनायास अबाध, यौवन की विजयगाथा वहन करती सुदूर दिगन्त तक;—वैसा सहज आलोक दुर्लभ है मनुज के वाक्य में, इसमें कहाँ आभास सीमाहीन मिलता है, कहाँ वह अर्थभेदी अभ्रभेदी गीत का उल्लास, मिलता कहाँ आत्मविदीर्णकारी तरलतर उच्छ्वास?

"मानव-वाक्य की इस जीर्ण काया बीच मेरा छंद भर दे एक नूतन प्राण, उसको अर्थ-बंधन से छुड़ा ले जाय ऊपर भाव के स्वधीन मोहक लोक में दृढ़ पक्षधारी अश्वराज समान द्रुत उद्दाम शोभन वेग से—यह है हृदय की साध! मुनि, जिस तरह है यह अग्नि की उद्दीप्त नौका नित्य अपनी गोद में ले सूर्यमंडल को उतार रही नियत इस पार से उस पार विपुल-व्योम-सागर बीच,

रा छन्द भी उस अनल-नौका सदृश ढोक विमल महिमा मनुज की दिक्प्रान्त
दिक्प्रान्त तक मैं दान करना चाहता हूँ बद्ध मानव-वाक्य को यह दीप्त
तिमय छन्द;—ऐसा हो कि या उन्मुक्त होकर संचरण कर सके जग की क्षुद्र
ीमाराशि, लेवे खींच इस गुरुभार पृथ्वी को गगन की ओर, फिर खींच बंधन-
ड़ित भाषा को मनोहर भवारस की ओर जो है देवपीठस्थली मानव जाति
ो। जिस भाँति बाँधा है महाम्बुधि ने धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान-
विरत नृत्य से; यह छंद मेरा भी उसी ही भाँति आलिंगन-जड़ित कर युग
ुगान्तर को सहज-गंभीर कलरव से प्रचारित करे मानव का अपार अतुल
ाहिम्नस्तोत्र, दे महनीय मर्यादा भुवन में इस क्षणस्थायी विरस नर-जन्म को।

"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो मेरी ओर से
ह स्वर्ग से जो आ गई है परमनिधि नरलोक को उसको न अब ले जायँ लौटा
कर वहाँ। है जो अपौरुष छन्द हमको मिला उसने देवता को है मनुज कर
ंया, मैं हूँ चाहता देवत्वपद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ
स धरा पर स्वर्ग का प्रासाद !!"

यही छन्द की महिमा है, वह मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का
ादि वाहक है।

सो, काव्य साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग केवल छन्द के कारण, शब्दा-
ंकारों के कारण और अर्थ वक्रिमा के कारण ही लोकप्रिय हुआ है। पुराने
लंकार शास्त्रों में ऐसे स्थलों के सौंदर्य का निपुण भाव से विचार किया गया
। परन्तु जिन लोगों ने इस चमत्कार की विवेचना की है वे लोग उन्हीं संस्कारों
पले थे जिनमें ऐसी उक्तियों के लेखक पले थे, इसीलिये असंगति जन्य आनंद
ो वे सिद्ध अर्थ मान लेते थे अर्थात् वाक्य के व्याहत और अनुपपन्न अर्थ को
क्षणा या व्यञ्जना के सहारे अव्याहत और उपपन्न कर लेने के बाद इस प्रकार
ो असंगति की संगति लग जाने में जो एक प्रकार का कौशल प्रगट होता था
से वे आनन्द का कारण स्वीकार कर लेते थे। नाना कारणों से असंगति में
ंगति लगा लगाकर आनंद पाने के मनोभाव विकसित हुए हैं। हमें उनका
ीक-ठीक अध्ययन कर लेना चाहिए। अशोक वृक्ष सुन्दरियों के वाम पद के
ृदु आघात से फूल उठता है, इस वस्तु के आधार पर न जाने पुराने भारतीयों
कितनी रसमयी रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन यह विश्वास भारतीय साहित्य में
हुत पुराना नहीं है, बहुत दीर्घकाल तक वह टिका भी नहीं। कालिदास के पूर्व
ायद अपरिचित था और मध्ययुग के हिंदी साहित्य में वह नहीं मिलता। मैंने

अन्यत्र दिखाया है कि संभवतः भारतीय सभ्यता में यक्षों की सभ्यता के मिश्रण के बाद यह विश्वास आया। सांची, भरहुत आदि में अशोक वृक्ष में इस प्रकार दोहद उत्पन्न करनेवाली यक्षिणी मूर्तियाँ अंकित हैं। इधर बताया जाने लगा है कि ये और ऐसी ही अन्य बहुत-सी मूर्तियाँ शिल्प में कालिदास के प्रभाव को सूचित करती हैं। मुझे दूसरी ही बात सूझती है। ये मूर्तियाँ उस युग के अत्यधिक प्रचलित विश्वास की सूचना देती हैं और कुछ खास बातों के कल्पित मूल्य की ओर इशारा करती हैं। सच्चा कलाकार इन कल्पित मूल्यों का जमकर उपयोग करता है। कालिदास ने ऐसा ही किया था। बाद में कल्पित मूल्यवाली बात भूल गई और आलंकारिकों ने इसे कवि प्रसिद्धि मान लिया। पर यदि इसके आरोप का इतिहास जाना जाय तो कालिदास के काव्य को अधिक गाढ़ भाव से अनुभव किया जा सकता है। अशोक दोहद स्थूल वस्तु का उदाहरण है, इससे अधिक सूक्ष्म वस्तु वे अविच्छिन्न विश्वास हैं जो किसी स्थूल आधार पर टिके नहीं रहते। एक युग के काव्य के मर्म को दूसरे युग का सहृदय तब तक नहीं समझ सकता जब तक इन रूढ़, किन्तु वस्तुतः किसी कारणवश आरोपित, मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी न हो। एक देश के काव्य-प्रयत्न भी दूसरे देश के काव्य प्रयत्नों की परम्परा जाननेवाले सहृदयों के निकट सब समय स्पट नहीं होते। वस्तुतः कल्पित मूल्य की जानकारी से हम काल और देश की सीमा लांघने का सामर्थ्य पाते हैं। यदि भारतीय समाज की विश्वास-परम्परा का अध्ययन किया जाय तो मनुष्य की अद्भुत ग्राहिका शक्ति का पता चल जाएगा। हमारे पास जितना भी साधन उपलब्ध है उससे इतना तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस देश में भी नाना प्रकार के विश्वास स्वीकार किए गए हैं, भुलाए गए हैंऔर झाड़ कर फेंक दिए गए हैं। भारतीय चित्त आज जैसा है वैसा ही सदा नहीं रहा। संस्कार भी सदा वैसे ही नहीं रहे, सब समय ऐसे रहेंगे भी नहीं। नये विश्वास आएंगे, नये कल्पित मूल्य स्वीकार किए जाएँगे और नये रास्ते से आवेग के रथ 'भारतीय' कहे जानेवाले चित्त में अबाध भाव से प्रवेश करेंगे। भारतीयता का प्रेमी जब नये अँग्रेजी पढ़े लड़कों को यह कहकर भर्त्सना करते हैं कि इनमें कुछ भी भारतीय नहीं हैं, कुछ भी ऐसा नहीं बचा है जो पाश्चात्य प्रभाव से कलुषित न हो गया हो तो वे अप्रत्यक्ष रूप से यही स्वीकार करते है कि भारतीय संस्कार भी परिवर्तनशील हैं और भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति आसानी से पैदा किए जा सकते हैं जो एकदम भारतीय हों ही नहीं।

फिर यूरोपीय प्रभाव होने-मात्र से कोई चीज़ अस्पृश्य नहीं हो जाती।

प्रेमचन्द की कहानियाँ बैतालपचीसी या गुलबकावली के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई हैं इतना कह देने से प्रेमचन्द का महत्त्व कम नहीं हो जाता। रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यक निबंध काव्यप्रकाश की शैली पर न लिखे जाकर अगर यूरोपियन समालोचकों के ढंग पर लिखे गए हैं तो इससे उनका महत्त्व घट नहीं जाता। प्राण चाहिए। जहाँ प्राण का उच्छलित तेज होता है वहाँ यह बात गौण हो जाती है कि वाह्य ढांचा किस देश या किस जाति से लिया गया है। फिर जो लोग यह मानते है किं देश विशेष के मनुष्य को अपने आप में ही सन्तुष्ट और सीमाबद्ध रहना चाहिए, किसी अन्य देश के मनुष्य से कुछ ग्रहण ही नहीं करना चाहिए, वे मनुष्य की मूल एकता में ही विश्वास नहीं रखते। आज हम साहित्य की जिस ढंग से चर्चा करते हैं वह पुराने भारतीय ढंग के अनुरूप न होकर यूरोप के आधुनिक ढंगों के अनुरूप हैं। हमारे समाचार पत्र और साहित्यिक पत्रिकाएँ यूरोपियन प्रभाव हैं, हमारी विश्लेषणात्मक आलोचना शैली यूरोपियन प्रभाव है, हमारे कामा, फुलस्टाप तक में यूरोपियन प्रभाव है। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा, जब तक उसमें जीवन है। जहां जीवन का वेग अधिक है, प्राण धारा का बहाव तेज है उस स्थान से उसका ऐश्वर्य छितराएगा ही। आलोक सीमा में बँधना नहीं चाहता, उसका धर्म प्रकाशित करना ही है। किसी समय भारतवर्ष में भी यह जीवन का ऐश्वर्य था। कहां उसका प्रकाश नहीं फैला? चीन, जापान, अरब, यूनान, मिश्र, ईरान जहाँ कहीं भी लोगों में प्रकाश सहन करने की शक्ति थी वहीं इसने अपना प्रभाव विस्तार किया। आज यदि यूरोप ने तपस्या की है, उसके जीवन में ऐश्वर्य का आलोक प्रकट हुआ है तो आभा भी फैलेगी ही और लोग भी ग्रहण करेंगे ही। भारतवर्ष ने उसे अगर ग्रहण किया है तो इसमें लज्जा की कौन-सी बात है? लज्जा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं होती, अन्धानुकरण में होती है। अविवेकपूर्ण ढंग से जो भी सामने पड़ गया उसे सिर माथे चढ़ा लेना, अंध भाव से अनुकरण करना, जातिगत हीनता का परिणाम है। जहाँ मनुष्य विवेक को ताक पर रख कर सब कुछ की अंध भाव से नकल करता है वहाँ उसका मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्रय प्रकट होता है, किन्तु जहाँ वह सोच समझ कर ग्रहण करता है और अपनी त्रुटियों को कम करने का प्रयत्न करता है वहाँ वह अपने जीवन्त स्वभाव का परिचय देता है। विवेक दाता पहिचानने की शक्ति देता है, अन्धानुकरण दान की ओर सतृष्ण भाव से झुकाता है। दातृत्त्व तपस्या से प्राप्त होता है, अविवेक साधना के अभाव से उपजता है। यूरोप जितनी दूर तक तपस्वी है

उतनी दूर तक दाता भी बन सकता है। जहाँ वह तपस्या से चालित न होकर तृष्णा से, मोह से, लोभ से चालित हो रहा है, वहाँ वह स्वयं दीन है, वहाँ उसमें ऐश्वर्य का अभाव है। जहाँ तक उसमें तपोलब्ध दातृ धर्म है वहाँ वह सबका सम्मान-भाजन है। सब कुछ को बटोर लेने की प्रवृत्ति गलत है, मनुष्यता को उदार बनाने वाले ऐश्वर्य से प्रभावित होना नहीं। वस्तुतः जो राष्ट्र जीवन रस से भरा है यह प्रभावों से डरता नहीं फिरता। वह खुली आँखों से जगत् के समस्त पदार्थों को, धर्मों को, मतों को, काव्यों को, चित्रों को देखता है और उसके जीवन की पूर्ति के लिये जो आवश्यक होता है उसे ग्रहण करता है और अपने आप जीवन रस की परिपूर्णता के कारण जो ऐश्वर्य आलोकित हो उठता है उसे दूसरों को देता रहता है। देने में और लेने में विवेक की शरण जाना चाहिए, संस्कारों की नहीं। लेकिन ठीक ठीक विवेक के लिये हमें अपने और पराये संस्कारों का ज्ञान चाहिए।

यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछली राजनीतिक दासता के कारण आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय जनता के चित्त में एक प्रकार की हीनता ग्रंथि पैदा हो गई है। हम दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं के शिकार हैं। अंग्रेजों के दातृत्व की योग्यता की परीक्षा किए बिना हमने उनका अंधाधुंध अनुकरण किया है। दान बटोरने की ऐसी हास्यास्पद प्रवृत्ति शायद ही इतिहास में इतने उग्र रूप में दिखी हो। आज राजनीतिक दासता समाप्त हो गई है, पर मानसिक दासता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। ब्रज की गोपिका की आँखों में एक बार अहीर के प्रसिद्ध बालक ने एक मुट्ठी अबीर फेंक दिया था। जैसे तैसे वह अबीर तो आँखों में से निकल गया पर अहीर का छोकरा जो जम के बैठा सो बैठा, किसी प्रकार नहीं निकल सका—

एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन सों
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं !

कुछ इसी तरह का हाल भारतीय शिक्षित चित्त का है। अंग्रेजी शासन तो निकल गया पर अंग्रेज अभी जमा है। हर बात में वे अपने अनाथ और अरक्षित बालक समझ रहे हैं। अंग्रेजों की सिखाई हुई बोली भूल गई तो क्या होगा ? अंग्रेजों की बताई हुई पढ़ाई की नहर सूख गई तो क्या होगा ? अंग्रेजों की रटाई हुई कानूनी बोली अगर नहीं रही तो क्या होगा ? मानसिक दासता का ऐसा जबर्दस्त भूत सिर पर सवार है कि हम भूल ही गए हैं कि हम दुनिया की सब से प्राचीन सभ्यता के धनी हैं, हजार हजार वर्षों से हमारी अपनी भाषा

रही है, विद्वत्ता रही है, शासन व्यवस्था रही है, शिक्षा व्यवस्था रही है। नवीन समस्याएँ भी आई हैं और नवीन ज्ञान भी हमें लेना है पर हम न तो नौसिखुए हैं न असहाय हैं। एक दूसरी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया भी हो रही है। कुछ लोग यह कहते हैं कि जो कुछ अंग्रेजों के संसर्ग से आया है, सब बुरा है, सब त्याज्य है। इन दो चरम अन्तों से बचने का प्रयत्न होना चाहिए। इसीलिये अपने और पराये संस्कारों तथा वास्तविक मानवीय मूल्यों का विवेक अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

उद्देश्य क्या है?

संस्कारों के समझने से मनुष्य दूसरे देश और दूसरे काल के साहित्य को समझ सकता है। ततः किम्? क्या होगा इस प्रकार देश और काल की सीमा को लाँघ जाने की स्पर्द्धित मनोवृत्ति को बढ़ावा दे कर? वस्तुतः समाज के सर्वांगीण विकास के वैज्ञानिक अध्ययन को बढ़ावा देने का एक ही उद्देश्य हो सकता है—ऊपरी भेद-विभेदों के तल देश में स्तब्ध भाव से विराजमान मानव जाति की अन्तर्निहित एकता की उपलब्धि। परन्तु इसीकी क्या आवश्यकता है आज समूचे जगत् में जिस मानवीय संस्कृति की प्रतिष्ठा के बिना सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हुआ दिखाई दे रहा है, जिसके बिना समूची मनुष्यता विनाश के गहन वात्याचक्र में उलझने को लाचार हो गई है उसकी प्रतिष्ठा इस प्रकार की उपलब्धि के बिना नहीं हो सकती। जीव विज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों ने मनुष्य की एकरूपता को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है लेकिन सामाजिक रीति-नीति और संस्कारों के अध्ययन से मनुष्य की दृष्टि और भी उदार बनेगी और देश तथा काल की सीमा को लाँघ कर सौंदर्य और माधुर्य का रस ले सकने का सामर्थ्य इस मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करेगा। आज भी ऐसे महामानव मिल जाते हैं जो देश और काल की संकीर्ण सीमाओं को भेद कर यथार्थ मानवधर्म को समझ लेते हैं। हमारे देश के रवीन्द्रनाथ और गाँधी जी ऐसे ही नर-रत्न थे। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस दृष्टि की प्रतिष्ठा के लिए देशव्यापी प्रयत्न करने होंगे। छोटी छोटी सीमाओं में आबद्ध जातीय या राष्ट्रीय ठसक उस गंभीर संस्कृति के अभाव की परिचायिका है, जो मनुष्य की विचार धारा का ऐश्वर्य है। देश और काल की सीमाओं को बहुमूल्य नाम देकर मनुष्य की अन्तर्निहित एकता के विरुद्ध सोचने का अभ्यास मानव-विकास के इतिहास को न जानने की निशानी है। प्रयत्न करने से इस त्रुटि की पूर्ति हो सकती है। उस प्रयत्न की ओर मनुष्य

जाति को उद्बुद्ध करना वाञ्छनीय है। मनुष्य की जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है उसीका प्रकाश साहित्य है। उसके अध्ययन से यह उद्देश्य सहज-साध्य होगा। सभ्यता और संस्कृतियों के इतिहास से यही तथ्य प्रकट होता है कि मनुष्य समस्त संस्कारों, समस्त आरोपित मूल्यों और समस्त रीति रस्मों से बड़ा है। मनुष्यता की निरन्तर प्रवहमान धारा नाना मूलों से शक्ति संग्रह करती हुई आगे बढ़ती आ रही है। मनुष्य का इतिहास इन्हीं साधनाओं का इतिहास है। उसने आदिम कही जाने वाली मनोवृत्तियों के हाथ अपनेको नहीं छोड़ दिया, प्रयोजन की संकीर्णता की बेड़ियों से अपने को नहीं बँधने दिया, मृत्यु के नागपाश में अपने को नहीं फँसने दिया। सब कुछ को रौंदकर सब कुछ को छोड़कर वह न जाने किस विजययात्रा के लिए निकल पड़ा है। ऋषि के शब्दों में कहने की इच्छा होती है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।"*

[तुम्हें यह गुप्त रहस्य बताता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।]

---

*एक भाषण।

नई समीक्षा-प्रणाली

साहित्य की आलोचना करते हुए आज हमारा ध्यान साहित्य के कतिपय सुनिश्चित और सुस्पष्ट आधारों पर जाया करता है। आज की आलोचना के ये आधार अनिवार्य और अकाट्य-से हो गये हैं।

परिस्थितियाँ

इस आधार की पहली रेखा है आलोच्य वस्तु के देश-काल, प्रचलित परिस्थितियों, सामयिक समस्याओं और विचारणाओं का अध्ययन और निरूपण। यह है काव्य के चूना, मिट्टी और गारा की नियोजना। इसे कोई कितना ही कम महत्त्व क्यों न दे, आज का कला समीक्षक इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसी उपादान से शिल्पी ने अपने लिये सामग्री चुनी है, फिर इसकी उपेक्षा की भी कैसे जायगी! इमारत की मजबूती और शिल्पी की दक्षता की परीक्षा इसी आधार पर की जा सकती है कि अपने युग की कच्ची सामग्री (Raw material) लेकर कलाकार कौन-सी कीमती चीज बना गया; अस्त-व्यस्तता और अव्यवस्था को किस रूप में व्यवस्थित कर गया; कोई सुन्दर या प्रियदर्शी वस्तु दे गया या केवल भानमती का कुनबा जोड़ गया। इन सब का निर्णय बिना उसके मूल उपकरणों की जाँच किये नहीं हो सकता। प्रत्येक कलाकार अपने युग की प्रगतियों का विधायक भी है और उसकी सीमाओं से बद्ध भी। यह उसका क्षर अंश है। यह क्षर अंश कितना सबल और परिपुष्ट है, युग की परिवर्तनशील संस्कृति के स्वस्थ निर्माण में यह कहाँ तक सहायक हो सका है, यह काव्य के ऐतिहासिक आधार की विवेचना किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। यह है काव्यालोचन के नवीन आधार की पहिली रेखा।

कुछ लोग काव्य के इस क्षर अंश को—उसके स्थूल उपकरण को—स्वीकार नहीं करते। कवि की अक्षरता और काव्य के शाश्वत स्वरूप के प्रति उनकी जो आसक्ति है, वही उन्हें इसके क्षर अंश को स्वीकार नहीं करने देती। किन्तु यह एक भ्रामक मनःस्थिति का द्योतक है। किसी भी श्रेष्ठ कवि में सौन्दर्य की शाश्वत कला की प्रतिष्ठा हमें मिल सकती है। किन्तु क्या इसका यह भी अर्थ है कि उन सभी कवियों के प्रेरक उपकरण भी एक से

ही हैं। यह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि कोई भी दो महान् कवि एक से उपादानों को लेकर नहीं चलते, सब में विचारों की कुछ न कुछ भिन्नता दिखाई देती है। सब की सौन्दर्य-सामग्री अपनी-अपनी विशेषता रखती है। सब अपने-अपने युग के भाव, भाषा और साधन-प्रसाधनों से प्रभावित हुए हैं। ऐसी अवस्था में काव्य के अक्षर सौन्दर्य और उसके क्षर उपकरणों में परस्पर वैपरीत्य देखना सम्यक् दृष्टि का लक्षण नहीं है।

काव्य के इस परिवर्तनशील ऐतिहासिक अंग की उपेक्षा आज की समीक्षा में किसी प्रकार नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि समय इतनी तेजी से बदलने का आभास देता है और समय से भी अधिक काव्य-शैलियाँ इतनी बहुमुखी हैं और विवेचना की शब्दावली इतने प्रबल वेग से परिवर्तित हो जाया करती हैं कि दो प्रकार की भ्रांतियाँ खूब आसानी से फैल सकती हैं। एक तो यह कि हम पूर्वयुग की अभिव्यक्ति ही सब कुछ मानकर बैठ जायँ और आगे बढ़ने से इनकार कर दें और इसके विपरीत दूसरी यह कि पूर्ववर्ती काव्य की एकदम ही अवहेलना करने लगें। इन दोनों खतरों से बचने के लिए और काव्य विवेक को संयमित बनाने के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण आज अनिवार्य हो गया है।

इस ऐतिहासिक अध्ययन की जहाँ अपनी सुस्पष्ट उपयोगिताएँ हैं, वहाँ इसके दुरुपयोगों से भी हमें सावधान रहना चाहिए। जहाँ तक यह अध्ययन कवि और काव्य की वास्तविक कलात्मक समीक्षा में सहायक हो अथवा जहाँ तक यह काव्य-रचनाओं में प्रकट होने वाले युग के सांस्कृतिक प्रवर्तनों का परिचय करा सके, वहाँ तक इसकी वास्तविक उपयोगिता है। किन्तु जब यह अध्ययन स्वयं अपना लक्ष्य बन जाता है अथवा किसी प्राचीन सांस्कृतिक या दार्शनिक परिपाटी से ऐसा रूढ़ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है जिससे काव्य-विवेचना का वास्तविक सम्बन्ध नहीं, तब वह कला आलोचना के लिए सहायक नहीं, बाधक बन जाती है। हिन्दी में ऐसे ही आलोचकों का आधिक्य है जो किसी समय-विशेष के काव्य में पाए जाने वाले सांस्कृतिक और दर्शनिक स्मृतिचिन्हों के हाथ अपने को सिपुर्द कर चुके हैं। ऐसे आलोचक सांस्कृतिक विकास और काव्यालोचना के मार्ग में अनाकांक्षित अवरोध उत्पन्न करते हैं।

यहाँ मैं एक उदाहरण देकर इस विषय को और भी स्पष्ट करना चाहूँगा। श्री मैथिलीशरणजी के काव्य को लीजिए। उसमें हमें प्राचीन रूढ़ियों को बदलने का एक उपक्रम आरम्भ से ही मिलता है। इस पर बहुत-से प्राची-

नता-प्रेमी यह कहेंगे, जैसा कि वे कहते भी हैं कि मैथिलीशरणजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक नहीं हैं। उन्होंने जिन चरित्रों की अवतारणा की है वे क्रमागत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। इसके विपरीत वे नए प्राचीनता-प्रेमी, जो गुप्तजी के पश्चात् होने वाले काव्योत्थान को देख चुके हैं, यह कहने का साहस करते हैं कि गुप्तजी ही प्राचीन संस्कृति के अवशेष प्रतिनिधि हैं। इन दोनों ही आलोचना-श्रेणियों में सच्चे ऐतिहासिक अध्ययन और सांस्कृतिक विकास की जानकारी का अभाव दीखता है। कम से-कम वे तटस्थ दृष्टि से विचार नहीं कर रहे। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह है कि इस ऐतिहासिक अध्ययन का प्रयोग गुप्तजी के काव्य की कलात्मक मीमांसा में नहीं किया जा रहा, उनके आरम्भिक प्रयासों और खड़ी बोली के शैशव-काल की सृष्टियों को इस रूप में उपस्थित किया जा रहा है मानो गुप्तजी किसी समृद्ध कला-युग के कवि हों। कला की जो छोटी-छोटी सहज सौन्दर्य भंगिमाएँ उनमें हैं, महाकाव्य के निर्माण की जो अनिवार्य अक्षमता उनमें है, कथा के सूत्र के सहारे भावनाओं का उद्रेक करने की जो प्राथमिक कला उनकी है, काव्य की जो सीमित किन्तु निर्दिष्ट शक्ति उनकी है, इतिहास के प्रकाश में उसका अनुसंधान, विवेचन और मूल्य-निर्धारण हमें करना चाहिए। किन्तु हम प्रायः आदर्श, मर्यादा, चरित्र-चित्रण जैसे शब्दों के मोह में पड़कर काव्य के लिए अल्प-महत्व के विषयों का अनीप्सित और अनावश्यक विस्तार करने लगते हैं, मानो यह इजहार कर देते हैं कि काव्य-विवेचन में ऐतिहासिक अनुशीलन को किस रूप में लिया जाय, यह भी हम नहीं जानते।

संक्षेप में हम फिर कहेंगे कि इतिहास के आलोक में हमें कवि की कृति की ऐसी भूमिका तैयार करनी चाहिए जिससे साहित्य और संस्कृति के विकास में उस कवि के स्थान और उसकी सच्ची देन का परिचय मिल जाय और उसी भूमिका पर खड़ी हुई कवि के व्यक्तित्व और उसकी कलाकृति का स्वरूप ठीक तरह से देखा जा सके।

शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि

यह तो हुई समीक्षा के आधार की पहली रेखा। काव्यालोचना की दूसरी रेखा है काव्यवस्तु की परीक्षा और काव्य के साँचों, शैलियो और बन्दिशों आदि का अध्ययन और उद्घाटन। काव्य-वस्तु की परीक्षा से मेरा मतलब उस सारी सामग्री की जाँच से जो उस कृति में नियोजित की गई है। यह सामग्री किस रूप में है, किस क्रम से और किस उद्देश्य से उसकी नियोजना की गई है; क्या

हम उसे कुछ विशिष्ट वर्गों, विचार-धाराओं, भाव-धाराओं या वादों में विभक्त कर सकते हैं, काव्यवस्तु की परीक्षा में ये सब प्रश्न हमारे सामने आते हैं। एक उदाहरण लेकर देखिए। प्रायः कहा जाता है कि प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यासों की कथा-वस्तु में बहुत बड़ा साम्य है। किन्तु जब हम उन दोनों की कथा-सामग्री को देखते हैं, तब उसका सबूत हमें नहीं मिलता। गोर्की में वर्ग-चेतना सुस्पष्ट है और वर्गों का संघर्ष दिखाना ही उसके अधिकांश साहित्य का लक्ष्य है। किंतु प्रेमचंद की कथावस्तु न तो संघर्ष के आधार पर नियोजित है और न उसका लक्ष्य वर्गों के द्वन्द्व को सामने रखना है। उन्होंने समाज और व्यक्ति के अनेक-मुखी जीवन का खाका खींचा है, किन्तु वर्ग-संघर्ष के या सामाजिक क्रांति के उद्देश्य से नहीं, कम-से-कम वह उद्देश्य उभर कर सामने नहीं आया। इस कारण हम प्रेमचंद और गोर्की की उपन्यासवस्तु को एक ही वर्ग में नहीं रख सकते। यदि औपन्यासिक वस्तु में अधिक समानता होती तो भी दोनों का साहित्यिक उत्कर्ष भिन्न ही होता।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही उद्देश्य को लेकर एक ही अथवा भिन्न-भिन्न साहित्यकार काव्यवस्तु का भिन्न प्रकार से प्रयोग करते हैं। कहीं वे रोमांचक प्रेम-कथाओं का आश्रय लेते हैं, कहीं व्यंग्यात्मक शैली अपनाते हैं और कहीं आदर्शात्मकता की ओर झुक जाते हैं। कहीं बौद्धिक अंश की ओर कहीं भावात्मक अंश की प्रधानता देखी जाती है। कहीं जीवन के स्थूल अंशों को उपादान बनाते हैं और कहीं उसके रमणीय अंशों को। आधुनिक साहित्य की यह बहुरूपता देखकर हमें आश्चर्य हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन बहु-रूपी काव्य-वस्तुओं का विन्यास एक ही समय में और एक-सा ही उद्देश्य लेकर हुआ है। ऐसी अवस्था में कथावस्तु की सजग परीक्षा, उनकी प्रेरक शक्तियों और लक्ष्यों का सुस्पष्ट निर्देश और भी आवश्यक हो जाता है।

हमारी नई कविता, छायावाद या रहस्यवाद कहलाती है। ये वाद आध्यात्मिक घेरे के अंतर्गत हैं, इसलिये प्रायः यह समझ लिया जाता है कि इस कविता का हमारे सामयिक जीवन से कुछ संबंध ही नहीं है। किन्तु काव्य-वस्तु की जाँच करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काव्य की शैली छायात्मक या रहस्यात्मक है, किन्तु इसमें सामयिक प्रेरणाएँ, विचारणाएँ और प्रगतियाँ भी कुछ कम मात्रा में नहीं। इसलिए एक ओर जहाँ हम अपने कुछ छायावादी मित्रों की भाँति यह मानने को तैयार नहीं हैं कि छायावाद या रहस्यवाद ही उत्कृष्ट काव्य का एकमात्र पर्याय है और उसका अंत होने पर काव्य का भी अंत

हो जायगा, वहाँ दूसरी ओर नवीन काव्यवस्तु को देखते हुए यह भी कहने का साहस नहीं किया जा सकता कि छायावादी काव्य नवीन जीवन से असंबद्ध है और केवल 'असीम के स्वप्न' देखता रहा है।

कल्पना का प्राधान्य और सौन्दर्य-सृष्टि की सूक्ष्मता आदि नवीन काव्य के कुछ ऐसे गुण हैं जो उसे स्मरणीय रक्खें, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पना ही काव्य है अथवा आज की कविता में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। काव्य के उपादान समय के साथ सदैव बदलते रहे हैं, इसलिए हमारे कवि-मित्रों को यह आशंका न होनी चाहिए कि काव्य-वस्तु के बदल जाने पर, अथवा 'हँसिया-हथौड़ा' के संकेतों से सूचित की जाने वाली नई जीवन-प्रगति का पल्ला पकड़ते ही काव्य की इतिश्री हो जायगी। ऐसा समझना असाहित्यिक होगा। काव्य किन्हीं विशेष कला-शैलियों या जीवन-अवस्थाओं का गुलाम नहीं है। वे वस्तुएँ, विचार-धाराएँ या जीवन-अवस्थाएँ वहीं तक आवश्यक हैं, जहाँ तक वे काव्य-निर्माण में सहायक हैं।

न नवीन और न प्राचीन काव्यवस्तु या विचारधारा ही काव्य को कोई कसौटी हो सकती है, इस संबन्ध में काव्य किसी प्रकार की सीमाएँ नहीं स्वीकार कर सकता। प्राचीन काव्यवस्तु के उदाहरण-स्वरूप पवित्रतम राम-कथा को ही लीजिए। आज भी इस कथा के अंशों को लेकर रूढ़िबद्ध पवित्रता का पाठ पढ़ाया जा रहा है, किन्तु उससे क्या काव्य की कोई विशेषता सिद्ध होती है? इसी प्रकार नवीन विचार-धाराओं और काव्य-वस्तुओं को लेकर भी रचनाएँ हो रही हैं, किन्तु क्या वे सब की सब श्रेष्ठ काव्य कही जा सकती हैं? उदाहरण के लिए श्री सुमित्रानंदन पंत के नए काव्य-प्रयोगों को लीजिए। यद्यपि उसमें बदलते हुए समय के संस्कार मिलते हैं, किन्तु उन्हें नए प्रवर्तक काव्य की पदवी देना संभव नहीं है। उसमें या तो कोरा सिद्धांत-निरूपण दिखाई देता है या उनमें अवास्तविक काव्यानुभूति दिखाई देती है। यहाँ मेरा मतलब नवीन विचार-धारा या नए दर्शन के संबंध में 'हाँ' या 'ना' करना नहीं है। मेरा कहना इतना ही है कि कोई भी विचार-धारा, कोई भी दर्शन, अथवा कोई भी जीवन-परिस्थिति जब तक अपने साथ एक अनिवार्य अवस्था, एक ज्वलंत विश्वास, लेकर नहीं आती, तब तक वह इसी प्रकार के कृत्रिम काव्य का सृजन करती रहेगी, जो 'आज और है और कल और'।

नई काव्य-धारा अपने अंतरंग अक्षय श्रोतों को जब नई जीवन-भूमि से उत्सर्जित करेगी—अभी ही उसके चिह्न दिखाई दे चुके हैं और आगे अधिका-

धिक दिखाई देंगे—तब हम यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वास्तविक क्रांतिकारी काव्य में और कृत्रिम कला-प्रदर्शन में क्या अंतर है !

साँचे, शैलियाँ और बंदिशें भी काव्य का अंग हैं और इनका भी अपना अलग महत्व है। उदाहरण के लिए गोर्की और प्रेमचंदजी को ही फिर से लीजिए। गोर्की के उपन्यासों की टेकनीक जितनी सुगठित, प्रौढ़ और सप्रयोजन है, साथ ही साँसों की भाँति जैसी सहज और बेपहचान है, प्रेमचंदजी के उपन्यासों की वैसी नहीं। श्रेष्ठ कलाकार अपनी कलावस्तु को जिन सूत्रों के सहारे सहज आकर्षक, विश्वसनीय और अनिवार्य बना देता है, दूसरे नहीं बना पाते। प्रेमचंदजी की कहानियों में ये बंदिशें उनके उपन्यासों से अधिक चुस्त बनकर आई हैं। काव्य-साहित्य के इन प्रकारों और प्रणालियों का अध्ययन भी साहित्य-समीक्षा के लिए अपेक्षित है।

काव्य-संवेदना

किन्तु काव्य-समीक्षा का मुख्य आधार वह तीसरी रेखा है जो समय, स्थिति, विचार-धारा, काव्य-शैली आदि के अनेकानेक भेदों के रहते हुए भी काव्य की एक अपनी माप बनाने का प्रयास करती है। अवश्य यहाँ भी सृजन के विशाल या लघु परिमाण के आधार पर कवि के महत्व का लेखा-जोखा शेष रह जाता है, किन्तु काव्य-गुण की श्रेष्ठता के आधार पर इनकी एक पंक्ति बनायी जा सकती है। इस युग में जब क्षण-क्षण में काव्य की माप-रेखाएँ बदलती रहने का आभास दे रही हैं, बहुत से लोगों को संदेह हो सकता है कि काव्य की स्थिर माप की यह धारणा कितने दिन ठहरेगी; किन्तु युगों, समाजों, संस्कृतियों आदि के बदल जाने पर भी और काव्य-शैलियों में, विचार-धाराओं में तथा साहित्य-गत मान्यताओं में उथल-पुथल मचे रहने पर भी हम इस विश्वास को नहीं छोड़ सकते कि कला का अपना आधार और सौष्ठव तब तक विलुप्त न होगा जब तक मानव-सभ्यता विनष्ट नहीं हो जाती। इसी आधार के रहते हम सभ्य संसार के प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ कवियों को, उनकी विभिन्न विचार-धाराओं, कथाक्रमों और परिस्थितियों के अशेष रूपान्तरों के ऊपर जाकर, एक श्रेणी में रखते हैं। इसी के बल पर हम सूर और तुलसी के काव्यगत सौन्दर्य को बिहारी, मतिराम या पद्माकर की पहुँच के ऊपर, बहुत ऊपर, रखने का साहस करते हैं और यह आशा मिटने नहीं देते कि इस स्थिर सत्य को कोई भी नवागत काव्यवाद टस-से-मस नहीं कर सकेगा। इसी की बुनियाद पर हम विभिन्न कवियों की विभिन्न कृतियों का, विभिन्न समयों के साहित्यिक सृजनों और एक

ही कवि की विभिन्न रचनाओं का तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। कोई ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, व्यक्तिवादी हो या अव्यक्तिवादी, सोशलिस्ट हो या असोशलिस्ट—उस पर 'लेबल' चाहे जो लगा हो—हम उसकी सारी कृतियों का कव्य-सौन्दर्य अनुभव कर सकते हैं। यहाँ तक कि उसकी एक रचना को दूसरी रचना से ऊपर या नीचे रख कर देख सकते हैं। क्या यह बिना काव्यगत स्थायी या स्थिर माप के संभव है! अथवा क्या व्यक्तिगत रुचि, संस्कार या मापहीनता इसके आड़े आ सकती है!

मैं पूरे आग्रह के साथ यह कहना चाहूँगा कि यह माप कदापि मापहीनता नहीं है। यह काव्यालोचना का शीर्षफल है, जो निरंतर काव्याभ्यास द्वारा और अत्यंत परिमार्जित, सजग, सूक्ष्म और व्यापक चेतना के योग से प्राप्त होता है। अवश्य इसमें काव्यगत उन समस्त उपकरणों का आकलन भी सम्मिलित हैं जिनका ऊपर विवरण दिया गया है, किन्तु यहाँ उन सबका समाहार या समापवर्त्तन कर लिया गया है। यहाँ विचार-धाराएँ, काव्यशैलियाँ और बंदिशें आदि सब अपना पृथक् अस्तित्व खोकर उन सबसे निर्मित होने वाले काव्य-सौन्दर्य में परिणत हो जाती हैं, जिसका सम्यक् 'संवेदन' ही काव्यालोचना का प्राण है। संसार की सभी श्रेष्ठ कला-कृतियों में यह 'संवेदन' अपनी पूर्ण परितृप्ति प्राप्त करता है, किन्तु इसके सूक्ष्मतम अशेष भेदोपभेदों की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

आप कह सकते हैं कि इस शाश्वत संवेदन में काव्य-विवेचन के वे बहुत-से पहलू छूट जाते हैं जिनका अन्य दृष्टियों से बहुत बड़ा मूल्य है। उदाहरण के लिए इसमें कवि द्वारा नियोजित घटनाओं के नैतिक पक्ष पर कुछ भी विचार नहीं हो पाता। बाल्मीकि ने सीता के निर्वासन-प्रसंग को अपने काव्य में स्थान दिया है। राम के चरित्र पर इस निर्वासन की क्या प्रतिक्रिया होती है, उनका यह कार्य कहाँ तक उचित या अनुचित है, इस पर परस्पर अत्यन्त विरोधी विचार प्रकट किए गए हैं। किन्तु काव्यसंवेदन में इनका कुछ भी स्थान नहीं। इस शंका का सीधा उत्तर यह है कि बाल्मीकि ने स्वयं और सीता द्वारा भी राम को इस कृत्य पर उन्हें खूब आड़े हाथों लिया है, किन्तु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से सीता या राम के नैतिक पक्ष-विपक्ष का प्रश्न नहीं उठता। संपूर्ण प्रसंग जिस असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करता है और उस स्थिति की जैसी मार्मिक व्यंजना कवि की वाणी करती है, वही 'काव्य-संवेदन' की मापक होती है। सभी नैतिक और बौद्धिक पक्षों-विपक्षों का काव्यात्मक समाहार ही संवेदना

का विषय है। कला-विवेचना की इस विशेषता को हमें स्वीकार करना ही होगा।

काव्य के भीतर कैसा मर्मपूर्ण मानव-जीवन का स्वरूप निहित है और कला की सीमा में उसका कैसा मनोरम और प्रभावशाली विन्यास किया गया है, ये दोनों ही सूत्र 'काव्य संवेदन' द्वारा हमारे हाथ में आ जाते हैं। अवश्य ही यहाँ अपार मानव-जीवन में से कोई एक ही बौद्धिक या नैतिक लीक नहीं पकड़ी जा सकती। आज के साहित्य में इतने विभिन्न वाद-प्रवाद, इतनी अनेकमुखी विचारधाराएँ, इतने किस्म किस्म के काव्य-साँचे और उनमें इतने प्रकार के भेदोपभेद निकलते जा रहे हैं और उनमें से एक-एक भेद या विचारधारा की द्योतक इतने विभिन्न मूल्यों (अवश्य ही कलात्मक मूल्यों) की कला-सृष्टियाँ सामने आ रही हैं कि हम केवल उन विभिन्नताओं के अध्ययन तक सीमित नहीं रहना चाहेंगे। ऐसा करने पर हम श्रेष्ठ कलाकार और अपर में क्या अन्तर है, यह समझ नहीं सकेंगे। इस प्रकार रचनाकारों के संबंध में अन्याय हो जायगा। कहीं आधुनिकतम जीवन-वस्तु को लेकर भी कला की दृष्टि से निकृष्ट रचनाएँ सामने रखी जा रही हैं, और कहीं बड़ी समुन्नत टेकनीक के भीतर कोरी आलंकारिकता छिपी मिलती है। इसीलिए हमें इस असाधारण, विरल और कुछ अंशों में रहस्यात्मक संवेदन-प्रणाली का प्रयोग करना पड़ता है।

दो अन्य रेखाएँ

संक्षेप में यही काव्यालोचना की तीन रेखाएँ हैं। इन तीन रेखाओं के स्थान पर एक चौथी और एक पाँचवीं रेखा अभी हाल से और जोड़ी जाने लगी हैं, जिन्हें हम उपयुक्त शब्दों के अभाव में 'मार्क्स रेखा' और 'फ्रायड रेखा' कह सकते हैं। कुछ अंशों में ये दोनों रेखाएँ एक दूसरे के विपरीत दीख पड़ती हैं, किन्तु ये दोनों ही अपने को विज्ञान-सम्मत बताती हैं। एक का क्षेत्र बाह्य-जगत् है और दूसरी का अन्तर्जगत् (अन्तर्जगत् का भी वह अंश जो अन्तश्चेतन है)। इस दृष्टि से दोनों में समन्वय ढूँढ़ निकालना आसान नहीं। मार्क्स का सिद्धांत साहित्य में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, उसे प्रायः साहित्यिक प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन से संबंध रखता है, कला-विवेचन से नहीं। किन्तु वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसने जिस समाजतंत्र का निरूपण किया, वह भविष्य का इतना सुन्दर स्वप्न था कि स्वभावतः पूर्वकाल की सारी सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाएँ उसके सामने फीकी जान पड़ीं। जब तक संसार में यह वर्ग-रहित समाज स्थापित नहीं हो जाता और जब तक उसके साथ ही अनिवार्य रूप से

आने वाली पुरुष और नारी की पूर्ण आर्थिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक सच्चे सांस्कृतिक उत्थान का युग कभी आया था या आ सकता है, यह अपने हृदय से कोई भी प्रगतिवादी नहीं मानता ! प्राचीन साहित्य और धर्म आदि को वे इसी दृष्टि से देखें, तो इनमें आश्चर्य ही क्या ! उनकी निगाह में वर्गवादी युग की सारी सृष्टि ही मूलतः दूषित है। इस भयानक एकांगी दृष्टि से देखने पर अब तक के साहित्य में कुछ भी सुन्दर नहीं दीख पड़ता। जिनकी कुछ कलात्मक अभिरुचि है, वे यदि प्राचीन काव्य में कहीं कुछ सौन्दर्य देखते भी हैं, तो हठात् उन्हें उस समाज की याद आ जाती है जो वर्गवादी समाज था ! वे विवश होकर उसकी ओर से मुँह फेर लेते हैं, अथवा ऐसी नुक्ताचीनी करते हैं जिसे सच्ची काव्य-समीक्षा में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। सच्चे अर्थ में ये ही लोग प्रगतिवादी हैं और इनकी सारी सांस्कृतिक आशाएँ भविष्य में अटकी हैं। इसलिए ये एक विवादग्रस्त जीवन-सिद्धान्त को काव्य-कसौटी बना लेने की अक्षम्य गलती करते हैं। काव्य का क्षेत्र भावों और मानव के चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और बाह्य-जगत् के आर्थिक या सैद्धान्तिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है, उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ही ऊँची रह सकती है और साहित्य में वे ही आदर्श और वही मानव-स्वभाव प्रतिफलित हुआ करता है, यह मानने को आज का प्रगतिवादी तैयार नहीं। मार्क्स से भी अधिक ये मार्क्स के प्रगतिवादी अनुयायी कला के प्रति ऐसी भ्रान्त धारणाएं बनाए हुए हैं। यदि ये जान-बूझकर प्रचारात्मक नहीं हैं, तो मार्क्सवादियों का यह काव्यकला-विरोधी सिद्धान्त और धारणा आश्चर्यजनक ही कही जायगी ! मैं यह नहीं कहता कि सभी प्रगतिवादियों की यही धारणा है, पर प्रायः इस तरह के विचार आए दिन देखने-सुनने में आते हैं।

मार्क्सवादी सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है, तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और असाध्य-सी हो जाती है। अत्यंत स्थूल रूप में मार्क्स-मतवादी पक्ष यह है कि साहित्य और कलाएँ या तो वर्गहीन समाज की सृष्टि हैं, या वे वर्गवादी समाज की सृष्टि हैं। समाजवाद की प्रतिष्ठा के पूर्व का संपूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है, अतएव वह मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ और स्वागतयोग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादियों की यह उपपत्ति सभी दृष्टियों से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है। पहली आपत्ति

तो यही है कि इसमें साहित्यिक वस्तु के विवेचन का रंचमात्र भी प्रयास नहीं है। केवल समाजवादी साहित्य और पूंजीवादी साहित्य के दो कठघरे बना कर मानवसमाज की संपूर्ण भावनात्मक और सांस्कृतिक संपत्ति को एक या दूसरे में बंद कर दिया गया है। पहला कठघरा दूषित और अपवित्र है, दूसरा कठघरा पूज्य और पवित्र। मानव के सामूहिक और सांस्कृतिक विकास के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि, व्यास, होमर, दांते, मिल्टन, शेक्सपियर, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि मानव-संस्कृति के महान् उन्नायकों की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन और अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहना व्यर्थ है कि ये पूँजीवादी युग के कवि थे। रहे हों ये किसी युग के कवि, पर देखना यह है कि मानव-चरित्र और मानव-भावना का कितना व्यापक, समुन्नत और प्रभावशाली निर्देश इन महाकवियों ने किया है। जो सिद्धान्त इन्हें पूँजीवादी युग का कवि कह कर टालता है, वह स्वतः अपनी असाहित्यिकता का इजहार करता है और अपनी अयोग्यता का प्रमाण देता है।

कुछ मार्क्सवादी साहित्य-विवेचक इतने असाहित्यिक न होने के कारण अपने सिद्धान्त का प्रयोग एक दूसरे रूप में करते हैं। वे कवि, कलाकार अथवा साहित्यिक की व्यक्तिगत स्थिति और मनोभावना का आधार लेकर यह देखना चाहते हैं कि कौन-सा कवि आर्थिक दृष्टि से संपन्न था, उच्च वर्ग का था, और कौन-सा कवि विपन्न और दरिद्र था। जो कवि दरिद्र और निम्न वर्ग का रहा हो, वही प्रगतिशील और समुन्नत कवि माना जायगा। यह कसौटी भी अनोखी है। इसमें यह पहले से ही मान लिया जाता है कि गरीब लेखक ही क्रान्तिकारी हो सकता है। यह निर्णय मानव-स्वभाव और चरित्र की कितनी भोंड़ी और निःसार रूपरेखा प्रस्तुत करता है, यह समझने की बात है। कोई संपन्न और उच्च कुलशील कवि समाज के दीन-दुःखी अंग के प्रति अपनी कल्पना दौड़ा ही नहीं सकता—न उनके प्रति मानसिक सहानुभूति रख सकता है! दूसरी बात यह है कि क्रान्तिकारी और प्रगतिशील होने के लिए दरिद्रता और समाज के नैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति अनास्था और विद्रोह अनिवार्य गुण हैं! और जिनमें ये गुण हैं, वे ही सच्चे और श्रेष्ठ साहित्यकार हैं चाहे उनकी रचनाएँ कितनी ही साधारण या सामान्य क्यों न हों।

इन दोनों प्रवादों की मूलभूत असाहित्यिकता इतनी स्पष्ट है कि इनका समर्थन करने के लिए मार्क्सवादियों में भी अधिक उत्साह नहीं दिखाई देता।

इनके बदले वे एक तीसरे सिद्धान्त की आड़ लेने लगे हैं। वर्गवाद के आधार पर सामाजिक विकास का विवरण देते हुए वे युग-विशेष की वर्गीय स्थिति का निरूपण करते हैं और उसी स्थिति-विशेष की भूमिका पर उस युग-विशेष के कवियों और साहित्यिकों की कृतियों का मूल्य निर्धारण करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में समय-विशेष की वर्गीय स्थिति ही वास्तविकता है, और उस वास्तविकता की नींव पर ही उस युग की कला-कृतियों और साहित्यिक सृष्टियों का भवन बना करता है। वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास-क्रम में वे किसी कवि को ले लेते हैं और उसके काव्य का विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वर्ग-संघर्ष की तत्कालीन स्थिति की ही उपज उस कवि की कविता है। किसी युग-विशेष की एक नपी-तुली वर्गीय स्थिति का निरूपण करना स्वतः एक संदिग्ध कार्य है, फिर उस नपी-तुली स्थिति के अंतर्गत किसी कवि की भावना-कल्पना और उसकी काव्य-शक्ति की नाप-जोख करना कितना विवादास्पद कार्य होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। इस कठिनाई को समझकर और इसकी मूलवर्तिनी त्रुटियों की जानकारी रखने के कारण ये मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक इस संबंध में कई प्रकार के हथकंडे काम में लाते हैं। वे कहते तो यह हैं कि युगविशेष को वर्ग-संघर्ष-संबंधी स्थिति की वास्तविक भूमि पर ही उस युग के कवि का कल्पना-भवन खड़ा होता है, पर अनुशीलन करते हुए वे पहले कवि की साहित्यिक विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों मान लेते हैं और तब उन विशेषताओं का उस तथाकथित युग-स्थिति से कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही यह एक उल्टा और तर्कहीन क्रम है। प्रायः इस प्रकार के समीक्षक किसी कविविशेष के संबंध में स्थापित साहित्यिक मान्यताओं को—उसके साहित्यिक उत्कर्ष को—मान कर आगे बढ़ते हैं, जिसमें उनके सिद्धान्त पर लोगों की आस्था बनी रहे! पर यह उपक्रम भी कितना छिछला और सारहीन है। यह तो काव्य-संबंधी साहित्यिक मानदंड को प्रकारान्तर से स्वीकार करने का 'मार्क्सवादी तरीका' ही हो जाता है। समय-विशेष की वर्ग-स्थिति को 'सत्य' मानकर उस समय के काव्य को उस 'सत्य' के आसपास बुना हुआ कल्पना-जाल मानना, और फिर उन दोनों के अनिवार्य संबंध को सिद्ध करने के लिए उक्त काव्य की मनमानी व्याख्या करना—और साथ ही साहित्य-क्षेत्र में फैली हुई उस कवि के संबंध की साहित्यिक धारणाओं को अपनाते रहना, ये सब स्पष्टतः मार्क्सवादी साहित्य-निर्देश की ऐसी खामियाँ हैं जिनको समझने के लिए थोड़ी-सी समझदारी भी पर्याप्त है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद की यह साहित्यिक मान्यता अब तक प्रौढ़ और परिपुष्ट रूप में साहित्यिक समाज के संमुख नहीं रक्खी जा सकी। इस आधार को लेकर चलने वाले समीक्षकों में परस्पर इतनी अधिक मतभिन्नता रहती है—किसी भी कवि की वर्गभावना या वर्गीय प्रतिक्रिया का आकलन करने में इतने भिन्न मत हुआ करते हैं—कि केवल इस बात से ही सिद्धान्त का कच्चापन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यह सिद्धान्त अपने पैरों पर खड़ा होने में असमर्थ है और बिना साहित्यिक विवेचकों के निर्णयों का पीछा पकड़े वह चल ही नहीं पाता। कल्पना की भूमि में रमने वाले स्वतंत्र कवियों और साहित्यिकों को वर्गवाद की खूंटी में बांधने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी की बात नहीं है। इसीलिए इस सिद्धान्त के हिमायतियों को पग-पग पर दूसरे मतों के साथ समझौता करना पड़ता है जिससे कि उनकी स्थिति सदैव अस्पष्ट और अनिर्णीत बनी रहती है।

वर्गवाद के इस सामाजिक या वर्गीय 'सत्य' से नितान्त भिन्न और उसकी प्रतिक्रिया में फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषण-वेत्ताओं का एक नया मत भी चल पड़ा है, जिसके आधार पर साहित्यिक समीक्षा-संबंधी नई चर्चा होने लगी है। मार्क्सवादी वर्ग-सत्य या सामूहिक सत्य के स्थान पर ये मनोविश्लेषक व्यक्ति की निजी चेतना को—चेतना क्यों अंतश्चेतना को—उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य-साहित्य में उस अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख तत्व ठहराते हैं। व्यक्ति की चेतना वा अंतश्चेतना के निर्माण में सामाजिक अथवा सामूहिक स्थितियाँ योग देती हैं, परंतु कवि की अंतश्चेतना ही अंततः वह स्वतंत्र और मौलिक सत्ता है जो उसके काव्य-निर्माण के लिए उत्तर-दायी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मार्क्सवादी सामाजिक स्थिति (वह भी वर्गीय स्थिति) को सत्य मानकर कविकल्पना को उसकी छाया या प्रतिबिंब मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर मनोविश्लेपण-वादी सामाजिक गतिविधि या स्थिति से काव्य का संबंध न मानकर व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को काव्य का प्रेरक और विधायक ठहराते हैं। स्पष्ट है कि दोनों मत अपने मूल दृष्टिकोण में एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं।

अन्तश्चेतना-वादी मत यह है कि काव्य की सत्ता अत्यंत ऐकान्तिक और मनोमयी है। व्यक्ति की चेतना पर पड़ने वाले सामाजिक प्रभाव और संस्कार काव्य के लिए उपादेय नहीं होते—सामाजिक परिस्थितियाँ, समस्याएँ और प्रश्न तो काव्य के लिए और भी दूरवर्ती वस्तुएँ हैं। काव्य और कलाओं की उद्भावना

कवि के अन्तरंग व्यक्तित्व या अन्तश्चेतना से होती है—ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नों का सृजन व्यक्ति की जागरूक चेतना नहीं करती, उसकी अन्तःवर्ती सत्ता स्वप्नों का सृजन करती है। काव्य भी एक स्वप्न ही है। कल्पना-व्यापार भी स्वप्न-प्रक्रिया ही है। जिस प्रकार स्वप्न में अनेक प्रतीक और मूर्त स्वरूप अन्तश्चेतना की सृष्टि बनकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार काव्य की कल्पनाएं और प्रतीक-विधान भी अन्तश्चेतना की ही उपज होते हैं। यदि उनका निर्माण कवि की अन्तःवर्ती चेतना नहीं करती, तो वे कल्पनाएँ और वे अप्रस्तुत मूर्तविधान सच्चे काव्य के उपादान न हो कर कृत्रिम कविता की सृष्टि करेंगे। इस प्रकार मनोविश्लेपण-वादी साहित्यिक मत अन्तश्चेतना के द्वारा उद्भूत प्रतीकों और कल्पना-रूपों को ही वास्तविक काव्य का आधार मानता है।

हमारी चिरदिन से चली आती हुई साहित्यिक धारणा और साहित्यिक विधियों के अनुसार ये दोनों ही—मार्क्सवादी और अन्तश्चेतनावादी—दृष्टिकोण और मत एकांगी हैं। अधिक से अधिक ये साहित्य की दो धाराओं का—उद्देश्य-प्रधान सामाजिक धारा और व्यक्तिमूलक ऐकान्तिक धारा—के प्रेरणा-सूत्रों का आभास देते हैं। परंतु ये साहित्य की प्रशस्त उद्भावना और विकास-भूमि का परिचय नहीं देते और साहित्यिक वैशिष्ट्य के आधारों का आकलन नहीं करतीं। मार्क्सवादी मत को मान लेने पर कवि-कल्पना और काव्य की प्रसार-सीमा वर्ग-संघर्ष की स्थिति-विशेष से ही संबद्ध और उसीसे परिचालित माननी पड़ेगी और दूसरी ओर मनोविश्लेपक मत के अनुसार काव्य को केवल स्वप्न का स्वरूप मानना पड़ेगा। ये दोनों मत परस्पर विरोधी तो हैं ही, स्पष्टतः अतिवादी भी हैं। कुछ विशेष प्रकार के काव्य ही इन निर्देशों की सीमा में आ सकेंगे। अधिकांश काव्य—और श्रेष्ठ काव्य इन प्रतिबंधों और निर्देशों से बाहर ही रह जायगा। आज तक जिसे हम सांस्कृतिक और भावात्मक दृष्टियों से श्रेष्ठ काव्य मानते आए हैं, उसमें सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियों का समाहार होता रहा है—और फिर भी वह सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं से परे मानव की सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य सत्ता से सम्बद्ध और उसकी उच्चतम भाव-भूमिका की पूर्ति और समाधान करने वाला सिद्ध हुआ है। साहित्य और कला के इस व्यापक और क्रमागत स्वरूप को हम किसी नवीन मतवाद के आग्रह से सहसा छोड़ नहीं देंगे। परन्तु इन दोनों मतों का उपयोग और उनकी सहायता हम अपनी काव्य धारणाओं के निर्माण में अवश्य लेना चाहेंगे। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि ये दोनों ही काव्य-वाद साहित्य के प्रेरणा-सूत्रों और उनके

स्वरूप का ही इंगित करते हैं, वे काव्य और कलाओं के वैशिष्ट्य और उनकी तुलनात्मक विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। उसके लिए तो हमें अपने साहित्यिक मानदंडों और परम्पराओं का ही आश्रित रहना पड़ेगा। नए मतों और सिद्धान्तों की चकाचौंध में पड़ कर हम साहित्य की परम्परा में गृहीत विवेचन-पद्धति और साहित्य की मूल्यांकन-संबंधी साहित्यिक विधियों को छोड़ दें, यह उचित नहीं। नए मत और सिद्धान्त साहित्य-समीक्षा को किस सीमा तक और किस विशेष दिशा में नया प्रकाश प्रदान करते हैं, यह बिना समझे, इन नए वादों को साहित्य-समीक्षा का एकमात्र आधार और उपादान मान लेना ऐसा भ्रामक निर्णय है जिसे किसी भी सभ्यताभिमानी देश की साहित्यिक परंपरा स्वीकार नहीं कर सकती।

भारतीय कला का अनुशीलन

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

§१. कला से रस का दोहन

कला श्री वा सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य वा श्री का निवास रहता है। जिस सृष्टि में श्री नहीं वह रसहीन होती है। जहाँ रस नहीं, वहाँ प्राण भी नहीं रहता। जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते हैं वहीं कला रहती है।

कहा जाता है कि आनन्द के अनुभव के लिये विश्व-कर्ता ने सृष्टि की रचना की; वह स्वयं रस से तृप्त है, कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है—**रसेन तृप्तः न कुतश्चनोन।**[१]

एक अखंड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उसके मधुर सरोवर शत-सहस्र-संख्या में चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रसानुभव के लिये प्राण सदा उत्सुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्धर्ष धाराएँ जब प्रकट होती हैं, प्राण तृप्त होता है।

रस के अनुभव के अनेक स्रोत हैं। रूप की शोभा, चरित्र, ज्ञान आदि रस-ग्रहण के अनेक स्तन हैं। कला और साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। जिस युग को कला की क्षीरधात्री प्राप्त होती है वह युग रस से धन्य हो जाता है। कला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि-सम्बन्धी श्री, प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

§२. कला का भू-मापन

मानस के सूने प्रदेश को भावों से और लोक को मूर्त रूपों से भरना यही कलात्मक सृष्टि है। कल्पना के लोक में नए-नए भावों की सृष्टि करना राष्ट्रीय चिन्तन का उत्थान-पक्ष है। उसी जगत् में पुराणकारों ने बहुमुखी गाथाओं के भव्य प्रासाद खड़े किए। साहित्यकारों ने नवीन आदर्श और चरित्र के रूपक बाँधे और इतिहास में भी साहित्य का सत्य मूर्तिमान् हुआ।

[१] अथर्व, १०।८।४४

पुराण और साहित्य जब कल्पना के रीते प्रदेश में भावों के नए ठाठ बनाते हैं और इतिहास का सत्य उनमें बसता है, तभी तीनों का वरदान पाकर कला समाज के जीवन को अनेक मूर्त रूपों से भर देती है। स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके अनेक रूप—सुधर्मा सभा में देवों की तरह—प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं, और उनके समवाय से कला का भवन जगमगाने लगता है।

शिल्पी और चित्रकार, साहित्य, पुराण और इतिहास की प्रेरणाओं को अपने ढंग से ढालकर प्रस्तुत करने का आयोजन और प्रयत्न करते हैं। अमूर्त भाव किस प्रकार सफलता से व्यक्त किए जा सकते हैं? इस प्रश्न से कभी-कभी शिल्पी को दीर्घकाल तक जूझना पड़ता है, तब कहीं जाकर कला की परिभाषाओं के वे सूत्र उसके हाथ आते हैं जिनके द्वारा कलाकार की भाषा राष्ट्र के गूढ़ चिन्तन को व्यक्त करने के योग्य बनती है। शिल्प की भाषा बड़ी अर्थवती होती है। यह सृष्टि देवशिल्प है। इसके शिल्पी को बोलकर कुछ भी कहना नहीं पड़ता, फिर भी उसकी शिल्प-लिपि के अक्षर सभी देश और काल में अपने अभिप्राय को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। मानुषी शिल्प से भी अभिप्राय-प्रकाशन का यह कार्य सिद्ध होता है। कला की लिपि का आविष्कार कलाविदों की उत्कृष्ट साधना का परिणाम होता है।

कला की उत्पत्ति-स्थिति-प्रचार के लिये तीन यत्न आवश्यक हैं —

(१) सर्वप्रथम अमूर्त भावों की कल्पनात्मक सृष्टि।

(२) अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना।

(३) लोक में कला की अभिज्ञता और रसानुभव की क्षमता की उत्पत्ति और प्रचार करना।

३. कला का मूर्त रूप

उदयाचल से उठकर सूर्य जब अपना दूसरा पैर उठाता है तब उसका पूरा तेज आकाश को छा लेता है। कला का वैभव भी उसके दूसरे चरण अर्थात् भावों को मूर्त रूप देने में ही है। शिल्पी पहले अनगढ़ शिलाखंडों की धैर्य के साथ आराधना करता है, उसकी उस निष्ठा से वे पाषाण मानों द्रवित होकर श्री और सौन्दर्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। उनमें कलाकार की भावना प्राण का संचार कर देती है। शिल्प के वे प्रतीक रसिकों और कलाविदों के लिये रस के अनुपम स्रोत बन जाते हैं। जो रसज्ञ हैं, सहृदय हैं उनके हृदय में ही कला रस-संचार का द्वार खोलती है और वे ही कला की वाणी के अर्थ को प्राप्त करते

है। कला के आचार्य उसके बाह्य रूप को समझ सकते हैं, पर रसज्ञ के लिये कला की वाणी अपने अंतरंग रूप को प्रकट कर देती है।

भारतीय कला ने अपने अर्थों को व्यक्त करने के लिये अनेक मनोहर सूत्रों का निर्माण किया। त्रिमूर्ति के पीछे दार्शनिक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है? प्रणव से लेकर त्रैगुण्य तक के विराट् भावों की अभिव्यक्ति के लिये कला ने 'त्रिमूर्ति' यह छोटा-सा इंगित बनाया और वह सबके लिये संतोषप्रद हुआ। त्रिमूर्ति की प्रतिमा मानों भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्त्वज्ञान के आँगन में खड़े होकर जब हम 'एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा' का उच्चारण करते हैं, तब कला में विरचित त्रिमूर्ति की प्रतिमा उस अनुभव को प्रत्यक्ष दिखाकर हमें अपूर्व संतोष प्रदान करती है। धारापुरी के कैलाश मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतिमा की भाँति हमारे सामुद्रिक देहलीद्वार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन की हमारे राष्ट्र की आत्मा है। अतएव इस भव्य त्रिमूर्ति के रूप में मानों राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी स्वयं मूर्तिमती होकर रत्नाकर के प्रवेशद्वार पर सबका स्वागत करती है।

इसी प्रकार शिव का ताण्डव भी कला का मँजा हुआ सूत्र है। दुर्धर्ष सृजन-शक्ति के स्पन्दन को एक केन्द्र पर लाकर उसकी कल्याणमयी कल्पना शिव का ताण्डव नृत्य है। जिस कलाकार ने सबसे पहले इस गम्भीर दार्शनिक भाव को कला की लिपि में व्यक्त किया उसकी ध्यान-शक्ति धन्य है।

शेषशायी विष्णु भारतीय कला की तीसरी अर्थपूर्ण परिभाषा है। सहस्रशीर्षा पुरुष अनन्त है, उसके एक अंश से यह जगत् स्थित कहा जाता है। विष्णु उसका वह रूप है जो इस विश्व में व्याप्त हो गया है। इससे बचा हुआ जो शतकोटि अनन्त ब्रह्म है वही सहस्रशीर्षा पुरुष है, उसका ही नाम शेष है, क्योंकि विश्व के बाद जो शेष रहता है वह वही है। विश्व में व्याप्त विष्णु सदा उस अनन्त शेष के आधार से स्थित रहता है, इस दार्शनिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये कलाकारों ने 'शेषशायी विष्णु' की प्रतिमा का निर्माण किया। विश्व की साम्यावस्था शेष की शय्या पर सोते हुए विष्णु का रूप है, वही विष्णु की योग निद्रा है। सृष्टि के लिये जो बहिर्मुख प्रेरणा है वही विष्णु की नाभि से बृंहणात्मक तत्त्व या ब्रह्मा का विकास है। ब्रह्मा के सम्मुख रज और तम रूपी मधु-कैटभ नामक दानवों का द्वन्द्व, गुण-वैषम्य की प्रचंड अवस्था है। लक्ष्मी के द्वारा विष्णु के चरण-संवाहन का सौम्य दृश्य सृष्टि के साथ 'श्री' का संयोग है। इस प्रकार के अर्थशाली भावों का एक ही प्रतिमा के द्वारा प्रदर्शन कला में अभूतपूर्व है। शेष-

शायी विष्णु के कलामय सूत्र के पीछे अर्थों का जैसे पूरा महाभाष्य छिपा हुआ है। जिस स्वर्ण-युग में इन भावों का लोगों को ज्ञान था, एवं दर्शन, साहित्य और कला का आपस में रोचनात्मक सम्बन्ध था, उस युग के शिल्पियों ने देवगढ़ के दशावतार मन्दिर की रथिका में शेषशायी विष्णु के इस स्वरूप का अंकन किया,[1] और उसी युग के महाकवि ने निम्नलिखित श्लोक में उसका साहित्यिक वर्णन किया—

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥[2]

भारतीय संस्कृति का जो साधना पक्ष है तप उसका प्राण है। तप का तात्पर्य है तत्त्व के साक्षात् दर्शन करने का सच्चा प्रयत्न। जो कही-सुनी बात हो उसका स्वयं अनुभव करना तप है। तप हमारी संस्कृति का मेरुदण्ड है। तप की शक्ति के बिना भारतीय संस्कृति में जो कुछ ज्ञान है वह फीका रह जाता है। तप से ही यहाँ का चिन्तन सशक्त और रसमय बना है।

तपःप्रधान जीवन का कलात्मक अंकन संस्कृति के अर्थों को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक था। शिव, बुद्ध, तीर्थंकर, नर-नारायण, पार्वती, भगीरथ, अर्जुन आदि के जीवन में तप का ही सौंदर्य है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तप की साधना उनके स्वरूप का आकर्षण है। तप के उदात्त भाव को सफलता से अंकित करके भारतीय कला ने एक बड़े विस्तृत क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था।

मोहंजोदड़ो की योगस्थ मूर्ति इस भाव का सबसे प्राचीन अंकन है। इस एक मूर्ति से सिंधु की सभ्यता को समझने में जितनी सहायता मिली है उतनी अन्य से नहीं। बुद्ध की तप-मूर्ति भारतीय संस्कृति के साथ साथ देश-विदेश में फैली और भारतीय धर्म की सबसे अधिक प्रभावशालिनी भाषा बनी। पद्मासन, ध्यान-मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, ऊर्ध्व मेरुदण्ड इन अक्षरों के द्वारा निर्मित

१—देवगढ़ के मंदिर की दीवारों के बाहरी ओर तीन शिलापट्ट हैं। उत्तर की ओर गजेन्द्रमोक्ष, पूर्व की ओर शेषशायी विष्णु और दक्षिण की ओर नर-नारायण की बदरीवन में तपश्चर्या अंकित है। संस्कृत में इन्हें 'रथिका-युक्त बिम्ब' (स्कल्प्चर्स इन टेम्पुल निचेज़) कहते हैं। मन्दिर का प्रवेश-द्वार पश्चिम दिशा की ओर है।

२—रघुवंश १३।६

उसकी लिपि को कोरिया से सिंहल तक और जापान से बाह्लीक तक सर्वत्र लोगों ने समझा। तप की परिभाषा और अर्थ एक ही रहते हैं, चाहे वह बुद्ध के जीवन में हो या शिव के जीवन में। जहाँ तप का आरम्भ होता है वहाँ मत-भेद समाप्त हो जाता है। अतएव ब्राह्मण, जैन-बौद्ध, आर्य धर्म के तीनों स्कन्धों ने तप के कलामय चित्रण की प्राप्ति से अपने आपको धन्य माना। कवियों ने साहित्य के द्वारा उसी अर्थ का समर्थन किया। कुमारसम्भव में शिव की समाधि और पार्वती की तपश्चर्या का जो वर्णन कालिदास ने किया है, वह उस युग की कला से अनुप्राणित है और कला के इष्ट अर्थों की व्याख्या करता है।

इसी प्रकार कमलों के वन में विराजमान देवी पद्मा-श्री, जिसे दिशाओं के अधिपति दिग्गज आवर्जित घटों से अभिषेक कराते हैं, सर्वभूतधात्री पृथिवी की मङ्गल-विधायनी उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। उसके कारण त्रिलोकी अवन्ध्य होती है और जगती-तल पर जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह चला करता है। पृथिवी के जलाशयों में जो पद्मवन फूलते हैं, उनकी श्री जब तक आकाश के मेघों से प्रतिवर्ष संयुक्त होती है तभी तक प्रजापति का चलाया हुआ चक्र सकुशल रहता है। इस विराट् यज्ञ-चक्र के गम्भीर भाव को व्यक्त करनेवाली पद्मा-श्री की कलात्मक वाणी को पाकर हमारा समाज संतुष्ट हुआ। साँची और भारहुत के तोरणों पर चिह्नों के द्वारा ही कला में जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का विधान किया गया था। उनमें पद्मा-श्री अथवा श्री-लक्ष्मी के अनेक चित्रणों का मंडन है। कला के ये अभिप्राय एक बार जन्म लेकर देश और काल के साथ फूलते-फलते रहते हैं। इनके आयुष्मान् जीवन अथवा विकास का अध्ययन भारतीय कला के इतिहास का रोचक पक्ष है। ऐसे ही और भी अनेक परिभाषा-सूत्र भारतीय कला में हैं। कमल के पुष्प और पत्रों से लहलहाता हुआ पूर्ण घट जीवन के जल को धारण करने वाले मानवी शरीर का प्रतिरूपक ही है। जीवन-रूपी जल ही इस घट की शोभा है। जब तक उसमें जीवन या प्राण भरा रहता है तभी तक घट मांगलिक या पूज्य समझा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण की एक संज्ञा अर्क है, क्योंकि वही इस शरीर को अर्चनीय बनाता है। वस्तुतः मानव-शरीर-रूपी घट से अधिक मङ्गलात्मक इस विश्व में और कुछ नहीं है।

जीवन के स्वस्ति-भाव का द्योतक स्वस्तिक चिह्न है। यह विश्व स्वस्तिक का ही प्रकाश है। स्वस्तिक के विपर्यास या उलटने से विश्व का विघटन हो जाता है। वैदिक परिभाषा में देश और काल रूपी दो महान् यक्ष हैं। उनके

बल इस विश्व में परस्पर टकराते हैं और अन्त में एक साथ मिलकर सृष्टि-प्रक्रिया के लिये परिभ्रमण करते हैं। जहाँ वे मिलते हैं वही स्वस्तिक का धारण-बिन्दु है। स्वस्तिक मानों हमारे ऋग्वेदीय ब्रह्म-विज्ञान का चिह्न है। स्वस्तिक का बिन्दु 'आभु' तत्त्व है जो अमूर्त ब्रह्म या सत् तत्त्व है। उसकी भुजाएँ 'अभ्व' या असत् हैं जो नाम-रूपात्मक हैं। इन्हीं की समष्टि की संज्ञा सदसत् है। सदसद्वाद ही वैदिक ब्रह्म-विज्ञान का उत्कृष्टतम रूप था।

प्राचीन त्रिक का प्रतीक त्रिरत्न बौद्ध और जैन दर्शनों में भी मान्य हुआ। धर्म की अप्रतिहत शक्ति का सूचक धर्मचक्र था जो भारतीय कला में भेद-भाव के बिना सर्वत्र पूज्य माना गया। ऋग्वेदीय विष्णु, जिसके त्रिविक्रम से यह सब परिच्छिन्न है, धर्मों का धारण करनेवाला कहा गया है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥ [1]

विष्णु जिन धर्मों की टेक है वे अखंड धर्म सर्वत्र व्यापक और सबके ऊपर हैं। वे सबके गोप्ता और अनभिभवनीय हैं। इन धर्मों का चक्र कभी रुकता नहीं; ये सृष्टि की अडिग नींव हैं।

चक्र के उपमान द्वारा अनेक दार्शनिक भावों को वैदिक मनीषियों ने व्यक्त किया। धर्मचक्र के अक्षबिन्दु पर वह बल आश्रित है जो सृष्टि-प्रक्रिया में व्याप्त है। बुद्ध भगवान् ने भी अपनी समाधि में धर्म और कर्म के द्वन्द्व को मानव जीवन की पहेली का हल समझा और इन दो तत्त्वों को प्रकट करने के लिये धर्मचक्र का आश्रय लिया। चक्र का केन्द्र धर्म का बिन्दु है। उसकी परिधि कर्मों का जाल है।

इस प्रकार अनेक देव-प्रतिमाओं और चिह्नों के द्वारा भारतीय कला ने अपनी परिभाषा का विकास किया। अनेक प्रकार के सौम्य और रौद्र भावों की अभिव्यक्ति के लिये शान्त और क्षुब्ध रूपों का आश्रय लिया गया। बुद्ध का जन्म, कृष्ण-यशोदा, त्रिशला-महावीर, शिव-पार्वती की—विवाह के अनन्तर—कल्याण भाव से सम्पन्न मूर्ति—ये सब रूप जीवन के सौम्य पक्ष की व्याख्या करते हैं। बाहरी भेद होते हुए भी इनका मौलिक भाव एक है। मनुष्य-समाज ने अपने पारिवारिक कल्याण की छाया को इन सुभग रूपों में देखने का प्रयत्न किया।

---

[1] ऋ० १। २२। १८

देवों का रुद्र रूप भी जीवन का कठोर सत्य है। अमृत के साथ मृत्यु भी मनुष्य के साथ मैत्री करना चाहती है। उसी की सत्ता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये अनेक प्रकार की संहार-मूर्तियों का निर्माण हुआ। गजासुर, त्रिपुरासुर, अन्धकासुर, तारकासुर, महिषासुर इन असुरों का, और इनके अन्य एक सौ एक बन्धुओं का संहार सत्य की ही महती विजय को प्रख्यात करता है। कलाकार शिल्पी उसी अनुशासन को मानकर चले हैं और उन्होंने कल्पना को तरंगित करके विविध रौद्र रूपों की सृष्टि की है। जीवन के सत्य के साथ कला का मेल कराने के लिये उन्होंने सौम्य और कठोर दोनों ही भावों को अपनाना ठीक समझा। अविद्या और अन्धकार की सृष्टि तथा विद्या की सृष्टि, दोनों को ही प्रजापति से निर्मित माना गया है।

४. अलंकरण

भारतीय कला में सौन्दर्य-विधान के लिये अनेक अलंकरणों का प्रयोग हुआ है। देवों के मूर्त रूप कला के शरीर हैं, तो भाँति-भाँति के अभिप्राय-अलंकरण उस शरीर के बाह्य मंडन हैं। इस सजावट के बिना कला सम्भ्रान्त नहीं बनती। पत्र और पुष्प के संभारों से कला का शरीर श्रीसम्पन्न बनाना आवश्यक है। लताओं और वृक्ष-वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से सँवारने में सहायता दी है। पत्रलता या पत्रावली[1] के अनबन भाँति के कटावों ने गुप्त कला को शोभा प्रदान की। दिगम्बर शिलापट्टों को परिधान पहनाने के लिये कलाकार के पास पत्रलताओं का अचूक साधन था जिसका उपयोग उसने अनेक प्रकार से किया है। अशोक-वृक्षों पर पड़े हुए झूले या उनके नीचे अशोक-दोहद के दृश्य वनस्पति-जगत् के साथ मानवी परिचय और सौहार्द भाव के उदाहरण हैं। जीवन में जैसा प्रकृति का सान्निध्य था उसी की छाया कला में पाई जाती है। आम, बरगद, खजूर, कदली, कदम्ब, अशोक, पीपल, उदुम्बर के महावृक्ष जिस प्रकार प्रकृति में हमारे जीवन के साथ घुले-मिले हैं वैसे ही कला में भी उन्होंने प्रवेश पाया। पुष्पों और वृक्षों के साथ शालभंजिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ प्राचीन नारी-जीवन का अभिराम विनोद था। फुल्ल शाल-वृक्ष को देखकर कौन उसका सख्य प्राप्त करना न चाहेगा ? भारतीय आकाश के नीचे

---

[1] **पत्रावली, पत्रलता, पत्रांगुलि, पल्लवभंगरचना आदि शब्द गुप्तकाल की परिभाषा में पत्रों की कटावदार बेलों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, (अँग्रेजी, 'फोलिएटेड स्क्रोल')।**

बसनेवाले मनुष्यों ने तरंगित हृदय से वृक्ष और लताओं के साथ अपना परिचय बढ़ाया। पाणिनि ने 'प्राचां क्रीडायाम्' सूत्र में प्रकृति के उत्संग में मनाए जानेवाले इन्हीं विनोदों का उल्लेख किया है। इन क्रीड़ाओं का उल्लेख वात्स्यायन के काम-सूत्र में भी हुआ है। कला में इन क्रीड़ाओं का सुन्दर चित्रण जब हमें मिलता है तब हम जीवन और कला को एक दूसरे के साथ तन्मय देखते हैं। भगवान् बुद्ध के जन्म के समय उनकी माता मायादेवी वसन्त की मंजरी से बौरे हुए आम की शाखा झुकाए हुए जिस मुद्रा में खड़ी थीं वह मुद्रा भारतीय साहित्य में 'शालभंजिका' नाम से प्रख्यात हुई। हिमालय की कुसुमित वनराजियों में फूलों से लदे हुए शाल-वृक्षों के नीचे उन क्रीड़ाओं का अध्याय शुरू हुआ था जब कि सम्भ्रान्त और स्वस्थ नर-नारी विद्ध शाल-वृक्षों के वार्षिक पुष्पमंगल से परिचित होने के लिये हिमालय के प्रदेशों की यात्रा करते थे। सुयामुन पर्वत की पुत्री यमुना के पितृगृह से गौरीशंकर शिखर की दुहिता अरुणा और ताम्रा नदियों की द्रोणी तक के भूप्रदेश की भौगोलिक विजय और नामकरण उसी युग के स्मरण हैं जिस युग में फुल्ल शाल-वृक्षों का वार्षिक निमंत्रण स्वीकार करके शालभंजिका क्रीड़ा के लोभी हम वहाँ पहुँचते थे। शालभंजिका, अशोकपुष्पप्रचायिका, उद्दालकपुष्पभंजिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, अशोकोत्तंसिका, तालभंजिका, सहकारभंजिका, दमनभंजिका, विसखादिका, अभ्यूषखादिका, इक्षुभंजिका, उदकद्वेडिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ उस समय प्रचलित थीं जिनको कलाकारों ने यथासम्भव अपने अलंकरणों में स्वीकार किया। जातकों में इन्हें 'उय्यानकीडा' और संस्कृत-साहित्य में 'उद्यान-सलिल-क्रीडा' कहा गया है। प्रबन्धकाव्य की परिभाषा में दंडी ने 'उद्यान-सलिल-क्रीडाओं' का सविशेष वर्णन भी काव्य का आवश्यक अंग कहा है। उद्यानों में पुष्पोच्चयन, पद्मिनी के वनों में उदकताड़न और लतागृहों में गात्र-मंडन आदि के अनेक वर्णन संस्कृत काव्यों में उपलब्ध होते हैं।[1] कला की सामग्री से साहित्य का और साहित्य के आधार से कला की सामग्री का अध्ययन ही कला और साहित्य दोनों के लिये परस्परोपयोगी हो सकता है।

हमारे नीलाम्बर की गोद जिन दिव्य पक्षियों से भरी हुई है और महाकान्तारों में निर्द्वन्द्व विचरते हुए जो पशु वनस्थली की शोभा बढ़ाते हैं, उनका भी कला में स्वागत किया गया। जिन पद्मसरों में करिणियों के साथ करि-यूथप

---

[1] विशेष देखिए, मत्स्यपुराण, अध्याय, १२०

क्रीड़ा नहीं करते उनको कलाकार कुंठित भाव से देखते हैं। शुक-सारिकाओं की क्रीड़ा और भवन-मयूरों का नर्तन, साहित्य और कला दोनों में समान भाव से अपनाया गया। प्रकृति से विरहित होकर प्राचीन भारतीय कला मानों जीवन के लिये छटपटाने लगती है। मनुष्य के आवाहन से जब कला नगरों में प्रवेश करती है तब भी वह अपनी प्राण रक्षा के लिये प्रकृति को साथ लेकर आती है। साँची, मथुरा और अजन्ता में शुंग, कुषाण और गुप्त युगों को भारतीय कला प्रकृति को साथ लेकर ही जीवित रही और मनुष्य को जीवन संदेश देती रही।

५. कला में लोक-संपुंजन

भारतीय कला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। बाणभट्ट के शब्दों में हम अपनी कला की इस विशेषता को 'त्रिलोकी-संपुंजन' कह सकते हैं। हमारी कला जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है। कादम्बरी में जो उस समय की चित्र-भित्तियों को 'दर्शितविश्वरूपा' कहा गया है वह यथार्थ ही है।[1] उन भित्तिचित्रों के रूप-वैभव का उससे अच्छा वर्णन नहीं किया जा सकता। लोक का सम्पूर्ण परिचय भारतीय कला को समझने की कुंजी है। अथवा यों कहा जा सकता है कि कला की सहायता से हम लोक के विश्वरूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं।

लोक के महान् नायक कला के प्रधान पुरुष होते हैं। तप और समाधि के द्वारा मनुष्य देवों से बराबरी की टक्कर लेते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि देवत्व की प्राप्ति मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। प्राचीन यज्ञ-विधि का आरम्भ करते हुए यह प्रतिज्ञा की जाती थी—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।

'अब मैं अनृत से सत्य-भाव को प्राप्त होता हूँ, क्योंकि सत्य देवों का रूप है, अनृत मनुष्यों का।' कला भी देवों की श्रेष्ठता का प्रदर्शन करती हुई मानवी आदर्श को बार बार नव चैतन्य प्रदान करती है। देवता भी मनुष्यों के समान संगीत नृत्य में रुचि रखते हैं, उनके जीवन की गति-विधि में संगीत और नृत्य से रस ग्रहण के लिये उतना ही स्थान है जितना मनुष्यों के जीवन में। लोक के आदर्श से दूर पड़े हुए देव कला के लिये मान्य नहीं।

---

[1] **'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः' (उज्जयिनीवर्णन में)।**

देवों के जीवन में देवियों को बराबरी का भाग मिला है। नारी की कम-
य मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता है।
री का लावण्य कला का ललाम भाव है। वह रस बनकर कला में ओतप्रोत
ता है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के
ना कला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती। भारतीय कला में
तने देव हैं उतनी ही बहुसंख्यक देवियाँ हैं। देवताओं के साथ उनके पार्श्व-
र-वाहन-आयुध-पुरुष आदि परिग्रह को भी कला में स्थान प्राप्त हुआ, जैसा कि
जयिनी के वर्णन में बाणभट्ट ने लिखा है।[1] यक्ष, नाग, किन्नर, सुपर्ण, सिद्ध,
धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देवयोनियों की कल्पना कला की रूप-
द्धि के लिये आवश्यक थी। ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में जो चक्रवर्ती पद
धरातल तक ऊँचा उठ चुके हैं, उन महात्मा या राजाओं का अंकन कला
अत्यन्त प्रिय विषय है। महापुरुषों के जीवन का चित्रण भारतीय कला का
पना स्वरूप ही है। उसकी इस विशेषता की छाप संसार की अन्य कला-शैलियों
भी पड़ी है। भगवान बुद्ध-जैसे लोकोत्तर महापुरुषों को भारतीय कला ने अपने
यबिन्दु पर स्थापित करके स्वयं अपने लिये भी सर्वमान्य और स्थायी प्रतिष्ठा
प्त कर ली। महापुरुष केन्द्र में स्थित होकर कला को जीवन के महान् उद्देश्य
साथ मिलाए रखता है। वह अपनी उपस्थिति से कला की भाषा में ऊँची
र्थवत्ता का संचार करता है। महापुरुष का जीवन सत् और असत् के द्वन्द्व
मानवोपयोगी व्याख्या है जिसे जो चाहे स्पष्ट देख सकता है।

भारतीय समाजशास्त्र की परिभाषा में लोकोत्तर पुरुष के अतिरिक्त राजा
व्यक्तित्व भी देवत्व के अंश से युक्त माना गया है। राजकीय वैभव को पाने से
ना में चमत्कार उत्पन्न होता है। चक्रवर्ती के जिस ऐश्वर्य की कल्पना जग्गय्य-
र के शिल्पी ने चक्रवर्ती के चित्रण में की है वह सब संभार कला के रूप को
ाता है। राज्य-सिंहासन, राजलक्ष्मी के चिह्न छत्र और चामर, चतुरंग बलकाय
साथ राजा की उत्सव-यात्रा, संगीत और नृत्य से अलंकृत राजकीय प्रासादों के
स्थान-मंडप, ये सब भारतीय कला में चित्रण के प्रिय विषय हैं। राजाओं के
तःपुर और राजकुलों में परिचर्या करनेवाले अनेक पार्श्वचर, अनुचर और
ीहारी भी अंकित मिलते हैं। काव्यों में वामन, कुब्ज, किरात, षण्ढ, वर्षवर
ादि नामों से अन्तःपुर के विविध कर्मकर जनों का वर्णन मिलता है। सभ्यता

[1] सरासरगन्धर्वं विद्याधराध्यासिताभिः चित्रशालाभिः।

के निर्माण में परिचारक और परिचारिकाओं का भी भाग रहता है। पाणिनि, जातक और अर्थशास्त्र में स्नापक, उत्सादक, संवाहक, छत्रधार, शृंगारधार, मणिपाली आदि अनेक भृत्यों के नाम पाए जाते हैं। उत्तरकालीन साहित्य, विशेषतः नाटक और कादंबरी-सदृश कथा-ग्रंथों में यह सामग्री और भी अधिक है। इस संबंध में कला और साहित्य का सम्मिलित अध्ययन रोचक हो सकता है।

राजकीय वर्ग के अतिरिक्त जो साधारण प्राकृत जन थे उनका भी विविध कथा-प्रसंगों के अनुरोध से भारतीय कला में पर्याप्त चित्रण पाया जाता है। अपने बैल और छकड़ों पर बहुमूल्य भांड लादकर सुदीर्घ व्यापार-मार्गों की यात्रा करनेवाले सार्थवाह, व्यापारी, सामुद्रिक पोतों पर द्वीपांतर की यात्रा करनेवाले साहसी नाविक और यात्री, पुत्र, पौत्र और समृद्ध परिवार के साथ देवार्चन में निरत गृहस्थ-जन और उनकी पुरंध्री स्त्रियाँ, नृत्य और संगीत में मग्न पौर जानपद जन—इनका बहुत प्रकार से कला में अंकन प्राप्त होता है। उससे भारतीय सामाजिक इतिहास की मूल्यवान् सामग्री मिलती है।

लोक-संपुंजन में मानो समग्रता का भाव भरने के लिये मनुष्य के साथ प्राकृतिक जगत् के वृक्ष-वनस्पति, पुष्प-लता एवं अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को भी कला में स्वच्छंद स्थान मिला है। कलाकार की दृष्टि मनुष्य को अन्य प्राणि-जगत् के साथ अंतरंग संबंध में ही बँधा हुआ देखती है। पत्र और पुष्पों से तो भारतीय कला के अनेक अलंकरण और अभिप्रायों की सृष्टि हुई है। अकेले कमल के ही अनंत प्रकार देखे जाते हैं। श्रीयुत स्मिथ के कथनानुसार पत्र और पुष्प के बहुविध चित्रण में जो सफलता भारतीय कलाकार को मिली है, वह संसार की और किसी कला-शैली में नहीं पाई जाती। कल्पसूत्र के एक वाक्य में पशु और वनस्पति-जगत् के इस चित्रण का सुंदर वर्णन किया गया है। राज-प्रासाद के एक बहुमूल्य परदे पर तरह तरह की भक्ति[1] (अभिप्राय या डिज़ाइन के लिये संस्कृत शब्द) जैसे ईहामृग, वृषभ, तुरग-नर, मकर, विहंग, व्याल, किन्नर, रुरु, मृग, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलताओं के चित्रण का उल्लेख है।

भारतीय कला की उपकरण-सामग्री में नाना प्रकार के आभूषण और नेपथ्य का भी प्रमुख स्थान है। इस सामग्री के द्वारा लोक की संस्कृति वास्तविक रूप से कला में प्रतिबिंबित हुई है। बंदनवार की तरह संतानमालाओं से सज्जित

[1] **भक्तिच्छेदैरिव विरचितां—मेघदूत।**

मुकुट, मकर-मुखों से निर्मित मकरिका-आभूषण, कंठ में स्थूल मुक्ता-कलाप से निर्मित एकावली माला जिसके मध्य में इंद्रनील होता था, कानों में ताटंक चक्र अथवा नागेंद्र भाँति के मुक्ताफल-जटित कुंडल, कंधे पर उपवीती ढंग से रक्खा हुआ विरली-संज्ञक उत्तरीय, मेखला-स्थान में बँधा हुआ नेत्र-सूत्र—यह गुप्त-कालीन लोक-संस्कृति का परिचायक नेपथ्य था, जो उस काल की कला में सुव्यक्त उपलब्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक युग की कला अपनी व्यक्त विशेषताएँ रखती है। साँची की कला में प्राकारवक्र कुण्डल जो सामने देखने में चौकोर, ठोस और भारी हैं, तत्कालीन स्त्री और पुरुषों के कानों में दिखाई देते हैं। कुषाण-कला में पान के पत्ते की आकृतिवाले मुकुट और भुजाओं में पहने हुए नाचते हुए मोर की आकृति से अलंकृत मायूर केयूर उस युग की विशेषताएँ हैं। कला के सर्वांगीण निरूपण के लिये विविध दृष्टिकोणों से इस संपूर्ण सामग्री का भली प्रकार अध्ययन होना आवश्यक है।

६. कला और साहित्य

भारतवर्ष में साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। इनका पारस्परिक संबंध हमारी संस्कृति का एक अत्यंत विशिष्ट और रमणीय पक्ष है। इस पक्ष के उत्तरोत्तर उद्घाटन और व्याख्यान से हमें कला और साहित्य दोनों को परखने की एक नई एवं समग्र आँख प्राप्त होगी और दोनों में रस-प्रतीति का एक नया मार्ग उपलब्ध होगा। साहित्य में जो विषय पारिभाषिक शब्दों से उल्लिखित होने पर भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, वह कला के मूर्त उदाहरण से स्पष्ट प्रतीत होगा। कला के उदाहरण में जो अर्थ मूक रूप से उपस्थित है, वह साहित्य की भाषा और शब्दावली से सजीव होकर अपना परिचय देगा। जिस प्रसंग में कला और साहित्य इस प्रकार मिल जाते हैं, वहाँ का रसानुभव कैसा विचित्र होता है, इसे केवल अनुभव या दृष्टांत से जाना जा सकता है। कादंबरी के राजकुल-वर्णन-प्रसंग में शुकनास-जन्म के समय अंतःपुर के विनोदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बूढ़े कंचुकियों के गले में पड़े हुए उत्तरीय को पकड़कर उनको खींचती हुई स्त्रियाँ मनोविनोद करती थीं।[1] मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एक स्तंभ पर राजकुल के प्रसाधन-

[1] उत्तरीयांशुकग्रीवाबद्धावकृष्टविडंबितजरत्कंचुकीकदंबकेन अंतःपुरिकाजनेन।

मंडन-मधुपान-नृत्य-संगीत-प्रधान जीवन के चित्रण से उकेरे हुए[1] एक स्तंभ-फलक पर ऊपर कहे हुए उत्तरीयाकर्षण विनोद का भी चित्रण पाया जाता है। यमुना की तलहटी से मिले हुए एक अन्य पार्थिव-फलक पर, जो गुप्तकालीन माथुर-शिल्प का एक बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है, इस दृश्य का अपूर्व सुंदर अंकन उपलब्ध हुआ है। कला और साहित्य के इस प्रकार एक दूसरे से उपकृत होने पर तत्कालीन संस्कृति का रूप खड़ा हो जाता है।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। यदि हम कथावस्तु, मनोभाव-चित्रण, नाट्य और अभिनय के करण और मुद्राएँ, आभूषण और वस्त्र, उपकरण और अलंकरण इनके विषय और परिभाषिक शब्दों का संग्रह करने के लिये कला की दृष्टि से प्राचीन वाङ्मय का मंथन करें तो हमें बहुत विलक्षण सामग्री प्राप्त हो सकती है। इस सामग्री की सहायता से जब हम कला को समझने का प्रयत्न करेंगे तो कला में एक नई अर्थवत्ता और रस की उपलब्धि होगी। कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला को देखना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक युग की एक बड़ी आवश्यकता है। महाभारत और रामायण, कालिदास और बाणभट्ट, तिलकमंजरी और यशस्तिलक चंपू—इस साहित्य में कला की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। और यतः कला के प्रति स्वागत और सौहार्द का भाव भारतीय साहित्य की प्राचीन विशेषता थी अतः प्रायः संस्कृत-साहित्य के सभी लेखकों ने जान-बूझकर अपने वर्णनों को कला और संस्कृति के पारिभाषिक शब्दों से विभूषित किया है। उनकी शब्दावली बड़ी समृद्ध है। भिन्न-भिन्न प्रकार की स्त्री-मूर्तियों और गुड़ियों के लिये कितने ही पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। शालभंजिका शब्द प्राचीन काल से ही मिलता है। अश्वघोष और बाणभट्ट दोनों ने इसका सुंदर प्रयोग किया है।

---

[1] उकेरना (धातु) और उकेरी (संज्ञा) दोनों शब्द संस्कृत 'उत्कीर्ण' से हैं, जो जौंसार बावर के लाखामंडल गाँव में मुझे अभी तक जीवित अवस्था में प्राप्त हुए। इस प्रदेश में कला से संबंधित अनेक और भी प्राचीन शब्द जीवित हैं और साथ ही प्राचीन अलंकरण के, जिसे वहाँ सज कहते हैं, बहुत प्रकार से लकड़ी की नक्काशी में अभी तक पाए जाते हैं। पहाड़ के सुदूर अभ्यंतर होने से यह कला अभी तक जीवित है।

इसीको कुछ लेखकों ने 'स्तंभप्रतिमा' और कालिदास ने स्तंभों की 'योषित्प्रतियातना'[१] कहा है। मिट्टी की बनी हुई स्त्री-मूर्तियों के लिये हर्षचरित में 'अंजलिकारिका' कहा है, जिसका अर्थ शंकर ने मृण्मय प्रतिमा किया है। कादंबरी में मिट्टी के इन खिलौनों को 'मृदंग' (मृत् + अंग) भी कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाओं में मृत्पुत्रिका किया है। इसके अतिरिक्त कनकपुत्रिका पत्रभंगपुत्रिका (हर्षचरित), कर्पूरपुत्रिका (कादंबरी), चंदनपंक-प्रतियातना, यंत्रपुत्रिका, मणिपुत्रिका, चित्रपुत्रिका, चित्रपटपुत्रिका (तिलकमंजरी), लेप्यपुत्रिका (उदयसुंदरीकथा), क्रीडापुत्रिका (उदय०) पांचालिका, दंतपांचालिका (हाथीदाँत की गुड़िया, मालती-माधव), दुहितृका (तिलकमंजरी), बाउल्लिआ (देशीनाममाला)—जिससे हिंदी 'बौली' निकला है—ये शब्द सूचित करते हैं कि कला की शब्दावली कैसी भरी-पुरी थी, और साहित्य में किस प्रकार स्वाभाविक रीति से उसका व्यवहार हुआ है। किसी भी प्रकार की स्त्री-मूर्ति या पुतली के लिये पुत्रिका शब्द रूढ़ हो गया था, यहाँ तक कि कान के पास बालों के पुतलीदार कटाव के लिये कर्णपुत्रिका शब्द प्रयुक्त हुआ, जिससे कनौती निकला है।

हिंदी के साथ भी ललित कलाओं का संबंध पर्याप्त घनिष्ठ रहा है, कारण कि रीति-युग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिका एवं राग-रागिनियों को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला में किया गया। हमारे प्रतिभाशाली कवियों ने लोक की रहन-सहन, वेष-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणों का अपने ग्रंथों में यथास्थान बड़े सुंदर ढंग से संनिवेश किया है। साहित्य में इस सामग्री का वर्णन और कला में इसी का चित्रण देखा जाता है। कला के स्वरूप को सांगोपांग जानने के लिये साहित्य से इन भावों और शब्दों का दोहन हिंदी-साहित्य का अत्यंत आवश्यक कार्य है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन अधूरा और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है, क्योंकि कला और साहित्य दोनों का समान भाव से योजक रस-तत्त्व एक ही है। जिस लोक-जीवन की उमंग ने साहित्य और कला को एक साथ ही जन्म दिया, उसके समग्र रूप का परिचय साहित्य और कला के साथ साथ अध्ययन पर ही निर्भर है। कला और साहित्य के इस घनिष्ठ संबंध के निदर्शन में यहाँ हिंदी के दो प्रमुख कवियों के उदाहरण दिए जाते हैं, जो

---

[१] रघुवंश १६।१७

सोलहवीं शताब्दी की समकालीन स्थापत्य-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। जायसी ने सिंहलद्वीप में गढ़-वर्णन करते हुए लिखा है—

पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देख तहँ ठाढ़े॥
बहु बिधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनकसिला गढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताई॥
नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरै पार॥१७॥[1]

इसके कुछ पारिभाषिक शब्द इस प्रकार हैं—पौरी (डोर वे); नाहर या सिंह; गँढ़ि काढ़े (कार्व्ड इन रिलीफ़); पसारहिं जीहा (विद प्रोट्रूडिंग टंग्स); बहु विधान (वेरियस डिज़ाइंस); गढ़ना (कार्विंग); खंड (स्टोरी)। जीभ पसारे हुए नाहर हमारी कला का एक पुराना अभिप्राय (मोटिफ) था।

इसी प्रकार रामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के बाद विवाह की तैयारी के समय जनकपुर में वितान-निर्माण का वर्णन समकालीन वास्तु-कला की पारिभाषिक शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥
हरषि चले निज-निज गृह आए। पुनि परिचारक बोलि पठाए॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचुपाई॥
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक-कदलि के खंभा॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना पेखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥२८७॥

बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हें। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हें॥
कनक-कलित अहि-बेलि बनाई। लखि नहि परै सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुता-दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किए भृंग बहु रंग बिरंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा॥

---

[1] पद्मावत, सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड।

सुर-प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनि मय सहज सुहाईं॥
सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नील मनि कोरि।
हेम बौर मरकत घवरि, लसति पाटमय डोरि॥२८८॥[1]

हीरा, पन्ना, लाल, पिरोजा आदि रत्नों की पच्चीकारी के द्वारा बेलों के भाँति भाँति के बंधों का निर्माण तुलसीदास की समकालीन वास्तुकला की एक विशेषता थी। कवि ने उसका एक सुन्दर रूप हमारे सामने खड़ा किया है। *चिर, कोरि, पचि*—ये शब्द उत्कीर्ण करने की विविध शैलियों को सूचित करते हैं। पच्चीकारी का काम तो उस युग में सर्वत्र होने लगा था। खंभों पर देव-प्रतिमाओं का गढ़कर काढ़ना[2] (कार्विंग इन रिलीफ़) प्राचीन भारतीय शिल्प की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पत्तेदार अहिबेल या नागबेल भी प्रायः तत्कालीन खंभों और फलकों पर पाई जाती है। चौक शब्द पत्थरों की रचना में भाँति भाँति की आकृतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। दक्षिणी घरों में रंगोली (रंगवल्ली) बनाने में जो आकृतियाँ या चित्र बनाए जाते हैं, उन्हीं के लिये उत्तर में चौक पूरना शब्द व्यवहृत होता है।

७. कला और वर्तमान लोक-जीवन

जिस प्रकार साहित्य, धर्म और विज्ञान का लोक के व्यापक जीवन में प्रवेश आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के संस्कार और समाज की स्थिति के लिये कला की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि कला कुछ सौन्दर्य-प्रेमियों के विलास या कुतूहल-तृप्ति का साधन-मात्र है, तो लोक की बड़ी हानि समझनी चाहिए। वस्तुतः कला जीवन के सूक्ष्म और सुन्दर पट का वितान है, जिसके आश्रय में समग्र लोक अपनी उत्सवानुगामी और संस्कारक प्रवृत्तियों को तृप्त करता हुआ उच्च मन की शांति और समन्वय का अनुभव कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य अपने अंतिम कल्याण के लिये यह चाहता है कि जितना स्थूल-जड़ जगत् उसके चारों ओर घिरा हुआ है, उसको सुन्दर रूप में वह ढाल ले। स्थूल के ऊपर जो मानस और आध्यात्म जगत् है, उसको चरित्र और ज्ञान के द्वारा हम आकर्षक और सौन्दर्ययुक्त बनाते हैं। इस द्विविध सौन्दर्य के बीच में ही जीवन पूरी तरह से

---

[1] मानस, बालकाण्ड।

[2] अँगरेजी के रिलीफ कार्विंग के लिये 'कढ़ी हुई उकेरी', 'कढ़ी हुई प्रतिमा' हिंदी के उपयुक्त शब्द हैं।

रहने योग्य बनता है। जिस समय जीवन के चरित्र और मनोभाव हमारे चारों ओर विकसित होकर अपनी लहरियों से वातावरण को भर देते हैं, और उनकी तरंगें हमारे अंतर्जगत् को आह्लादित और प्रेरित करती हैं, उस समय यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं के जो अनगढ़ रूप हमें घेरे हुए हैं, वे भी कला के प्रभाव से द्रवित हो जायँ और उनमें से रूप-सौन्दर्य और श्री के सोते फूट निकलें। कला का प्रत्येक उदाहरण जगमगाते दीपक की तरह अपने चारों ओर प्रकाश की किरणें भेजता रहता है। वह वायु में निरंतर सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके मनुष्य के मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रेरित करता है। समाज जिस प्रकार की मानस-संस्कृति को अपने चरित्र, बल और व्रतों की साधना से अपने लिये बनाता है, उसी के अनुरूप कला का निर्माण करना भी समाज-स्थिति के लिये आवश्यक है। गुप्त-काल के संभ्रांत नागरिकों ने 'अनुत्तर-ज्ञानावाप्ति' या अनुत्तरा बोधि का आदर्श अपने सामने रक्खा और प्रशांत आर्य जीवन की प्राप्ति के लिये सांसारिक वैभव का उपयोग उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। सप्त समुद्रों की यात्रा से स्वर्ण का संचय करनेवाले अर्थपति गृहस्थ उस धन से धर्म और कला का संवर्धन करते थे। उसी के अनुरूप उनकी कला भी सुन्दरतम श्री और रूप को संयत भाव से प्रकट करने के लिये विकसित हुई।

कला और जीवन का सम्बन्ध केवल कहने की बात नहीं है, बल्कि मनुष्य कला के द्वारा अपने जीवन के ध्येय को साक्षात् देखने के लिये सच्चा और सशक्त प्रयत्न करता है। जब इस प्रकार का प्रयत्न पूरे समाज को छा लेता है तभी मानों संस्कृति के पूरे विकास का चक्र पूरा होता है। स्थूल जगत् को विकसित मनोभाव और आदर्शों के अनुसार सुन्दर रूप में परिणत कर लेना ही कला है, जिसका सम्बन्ध जीवन के हर एक ओर से है। मनुष्य का शरीर, उसके वस्त्र, केश-विन्यास, उसका शयनासन, घर के पात्र तथा अन्य सब वस्तुएँ, जिनका उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध है, मनुष्य के विकसित मन के संस्कार से प्रभावित होने की अपेक्षा रखती हैं। जब तक यह प्रभाव सच्चे रूप में प्रकट नहीं हो लेता, मनुष्य के मन का द्वंद्व जीवन की समस्या की तरह बना रहता है और मन को संतुलन नहीं मिलता। यदि वर्तमान लोक-जीवन अपने विकास और स्वाभाविक मार्ग को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अवश्य ही कला के प्रति अपने व्यवहार को शिथिल—कौतुक का विषय—न रखकर उसे जीवन के सत्य के रूप में बदलना पड़ेगा। यदि हम विज्ञान और साहित्य, धर्म और दर्शन के विकास को मानव-मन की उन्नति के लिए आवश्यक समझते हैं और उसके लिये लोक में

अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, तो हमें कला के लिये भी—जो नृत्य, वाद्य, चित्र-शिल्प आदि के द्वारा जीवन की कर्मात्मक प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है—अवश्य विचारपूर्वक प्रयत्न और आयोजन करना चाहिए। ज्यों ज्यों लोक में कला का क्षेत्र विस्तृत होगा और कला के द्वारा रस-ग्रहण करने का मानस-चैतन्य हम-में प्रबुद्ध होगा, त्यों त्यों हमारे मन में उन सूक्ष्म नियमों को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होगी, जिनसे जीवन एक सामान्य घटना न रहकर सर्जनात्मक शक्ति के नए वेग से संचालित होने लगता है।

नवीन भारतवर्ष में कला की भावना और उसके रस की अभिज्ञता का प्रचार आवश्यक धर्म है। राष्ट्रीय अभ्युत्थान की दृष्टि से भी कला की उन्नति आवश्यक है। उत्थान और विक्रम के मानसिक परमाणु ही कलात्मक वस्तुओं का रूप ग्रहण करके हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। महामल्पपुरम् के जिस शिल्पी ने गङ्गावतरण के लिए तपश्चर्या करते हुए भगीरथ की मूर्ति उत्कीर्ण की, उसने अपने युग की अनेक प्रेरणाओं को उस अवतरण के द्वारा प्रकट किया है। भगीरथ का दृढ़ और उन्नत मेरुदंड, उस काल में ज्ञान और संस्कृति की गङ्गा के प्रवाह को सँभालने की जो लोक-शक्ति थी, उसका परिचय देता है। सौभाग्य से हमारी जनता का मन कला के प्रति अभी शुद्ध बना हुआ है। यद्यपि उसके संस्कार प्रसुप्त हैं, पर उनमें किसी प्रकार का विकार या रस के अनुभव करने की शक्ति का ह्रास नहीं देखा जाता। जिस समाज के मानस में रस ग्रहण करने के तंतु जितने बलिष्ठ होते हैं, उसका जीवन भी उतना ही चिरस्थायी होता है। अपनी रस-ग्रहण-शक्ति के द्वारा हम मानों स्वयं मृत्यु के ठंडे संस्पर्श को चुनौती देते हैं। हमारे समाज में रस की अनुभूति के तंतु और स्रोत सहस्रों की संख्या में विकसित हुए, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैले। जिस प्रकार सूर्य अपनी अगणित किरणों से सहस्रांशु कहलाता है, उसी प्रकार कला के द्वारा रस ग्रहण करने के लिये हमारे राष्ट्र का मन भूतकाल में सहस्र रश्मियों से विकसित हुआ। ठोस पहाड़ी चट्टानों को लोहे की निर्जीव टाँकियों से काटते हुए और जड़ पहाड़ी चील-बटों से भिन्न वर्णों के रंग तैयार करके इस देश के कुशल चित्रकार और शिल्पियों ने अपनी प्रतिभा और ध्यान की शक्ति से अजंता की महती चित्रशाला के रूप में रस ग्रहण करने का एक शाश्वत साधन उत्पन्न कर दिया। राष्ट्र के इस अद्भुत प्राणमय पराक्रम की ओर हम जितना ही देखते हैं, हमारा मन आश्चर्य से चकित हो जाता है। इस प्रकार राज-सिंहासनों की सजावट से लेकर घर में प्रयुक्त होने-

वाले छोटे-छोटे पात्रों में कला के पूर्णतम सौन्दर्य को उत्पन्न किया गया। अपने पशु-पक्षी, हाथी और घोड़ों के लिये भी अनेक प्रकार के आभूषण और सुन्दर परिधानों की रचना करके हमने उनको भी अपने रस-ग्रहण करने का एक साधन बनाया। काव्यों में सम्राट् के विशिष्ट हाथी और राजवल्लभ तुरंग को भी कवि ने अपने ध्यान के पूरे भागधेय से उपकृत किया है। हाथियों के गले में पड़ी हुई क्षुरप्र-मालाएँ, जिनका कौटिल्य ने वर्णन किया है, उनके ऊपर आच्छादित चित्रास्तरण और इंद्रगोपा के समान लाल रंग के चटकीले पांडु- कंबलों के आवरण—ये इस बात के सूचक हैं कि समाज ने उनके द्वारा अपने रस-तंतु को कितना फैलाया था। गुप्त-कालीन कलाकारों के लिये जीवन के उपयोग में आने-वाली कोई वस्तु ऐसी न थी कि जिसमें वे कला का संचार न कर सकते।

अहिच्छत्रा से मिले हुए मिट्टी के छोटे-छोटे प्याले और प्यालियाँ, जिन पर भाँति भाँति की रेखाओं और पत्र-पुष्पों की भक्तियाँ अंकित हैं, अपने सौन्दर्य और सुहावनी आकृति में अद्वितीय हैं। गंधार देश में काबुल से साठ मील उत्तर प्राचीन कपिशा नगरी से मिले हुए दान्त फलक कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये हाथीदाँत की तख्तियाँ, रत्नपेटिकाओं के भाग हैं। उनको देखकर भान होता है कि शुंग-कुषाण और गुप्त-काल के नागरिक स्थूल जगत् की प्रत्येक वस्तु में सुंदरता का संचार करके अपने जीवन में रसानुभव की किस तीव्र अवस्था तक पहुँच सके थे। ये गजदंत-फलक मथुरा के आसपास बनाकर किसी समय मध्यदेश से कपिशा ले जाए गए थे। इस प्रकार लोक में जितने अधिक मार्गों से रस का अनुभव किया जा सकता है उतना ही लोक का कल्याण है। हमारे समाज में कुछ तो प्राचीन परंपराओं के कारण और कुछ जीवन की पृष्ठभूमि में विद्यमान अध्यात्म-निष्ठा के कारण विषाद को जीतकर आनंद-मग्न और रस-तृप्त होने की अद्‍भुत क्षमता है। हम जो अभी तक पर्व और उत्सवों में अपने आनंदोल्लास के द्वारा जीवन के विषाद-पक्ष को बिलकुल भूल सकते हैं, यह हमारे अमर स्वास्थ्य का लक्षण है। जहाँ विषाद है, वहीं मृत्यु है; जहाँ आनन्द है, वहीं जीवन है।

लोक की रसात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान के द्वारा पुनः विकसित करना और कला के प्रति उदार एवं उदयात्मक भावना को जाग्रत करना वर्तमान काल की आवश्यकता है। कलाओं के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्म-चैतन्य को शीघ्र ही फिर प्राप्त कर सकते हैं। शिव के तांडव की शक्ति को अपने ही अंगों में हम पुनरुज्जीवित देख सकते हैं। वज्र के द्वारा दानवों का दलन

करनेवाली वज्रिन् इन्द्र की त्रिलोकरक्षी महिमा को अपने रंग-मंच पर प्रत्यक्ष करके कितना आत्मकल्याण किया जा सकता है ? प्राचीन वीणा-गाथियों के स्वरों को अपने संगीतमय कंठ में फिर से भरकर हम अतीत के साथ तन्मय हो सकते हैं। अपने कुशल चित्रकारों के वर्णाढ्य चित्र-पटों और भित्ति-चित्रों को फिर से साक्षात् देखकर हमारे समाज में आनन्दित जीवन के नए अध्यायों का पारायण हो सकता है। इस प्रकार नृत्य, गीत, नाट्य, चित्र सबके द्वारा उत्थान की एक नई भावना जन-मानस में प्रकट हो सकती है।

लोक में कला के पुनरुत्थान के लिये यह आवश्यक है कि हम सहानुभूति की दृष्टि से लोक का सूक्ष्म अवलोकन करें। जो जो कला के भाव जहाँ बचे हैं, उनको पहचानें और उनकी रक्षा करें। इस दृष्टि से एक साधारण वस्तु भी, जो लोक की खान में सुरक्षित बच गई है, हमारे लिये अमूल्य निधि बन सकती है। एक छोटे से बर्तन के रूप में कभी-कभी सहस्रों वर्षों की परंपरा सुरक्षित मिल जाती है। वैदिक युग में जिस प्रकार के चमू नामक पात्र मिलते थे, उसी परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए चम्मू नामक शुद्ध कांस्य के लोटे अभी तक झांसी जनपद में तैयार होते रहे हैं। उनकी शोभन आकृति स्वयं एक कला की वस्तु है, जिसमें नेत्रों के लिये पर्याप्त आकर्षण है, और उसपर बने हुए खरबुजिया फाँकों के गलते—जिन्हें जानपदी भाषा में चीमरी की भाँति (चीमरी - संस्कृत चिर्मटिका,—भाँति, तरह या डिज़ाइन) कहा जाता है, बहुत ही सुंदर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अनगिनत नमूने हम अपने यहाँ अब भी पा सकते हैं। यामुन पर्वत (बंदर—पूँछ) के पादमूल के निकट ही यमुना-तट पर बसे हुए लाखामंडल गाँव में हमें प्राचीन काष्ठ-शिल्प की परंपरा अभी तक जीवित प्राप्त हुई, जिसमें कुषाण और गुप्त-कालीन चित्रात्मक अभिप्राय अपने परिभाषिक नामों के साथ अब भी चालू हैं। देउल (देहली), मथेंडी (मस्तक-दंडिका, सिरदल), भदरकी (भद्रिका, अँग्रेज़ी फ्रीज़), चंदक, कंकण (किवाड़ का, पीतल में लगा हुआ कड़ा), पकौड़ा (आमलक), पोल छाँटना (कोर मारना, चैम्फ़रिंग) आदिक पारिभाषिक शब्द पुराने समय की परंपरा सूचित करते हैं। इस प्रकार कला को लोक-व्यापिनी सामग्री से भाँति-भाँति के नमूनों और शब्दों का संग्रह किया जा सकता है। जब तक कला की यह नींव पक्की नहीं बनाई जाती, तब तक केवल नवीन निर्माण कृतकार्य नहीं हो सकता। सर्वत्र नवनिर्माण प्राचीन निधि को साथ लेकर ही सफल हो सकता है।

अजंता ने नूतन चित्रकला को अनुप्राणित किया है। नवीन नृत्य और

नाट्य के अभ्युत्थान में कथकलि, भरतनाट्य, मणिपुरी आदि पद्धतियों से बहुत कुछ जीवन प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कला के हर एक क्षेत्र में नवीन का प्राचीन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से संस्कृति के प्रवाह की जो दुर्धर्ष धारा इस देश में किसी समय थी, उसके साथ हमारा जीवन फिर से संयुक्त होकर भविष्य के पथ पर प्रगतिशील हो सकता है। प्राचीन और नवीन का यह समन्वय ही समाज के लिये श्रेयस्कर है।

प्राचीन साहित्य

(काका साहेब कालेलकर)

साहित्यकारों ने कविता की तुलना कान्ता से की है। शास्त्रकारों ने कुटुम्ब में जो प्रतिष्ठा स्त्री की कल्पित की है वही संस्कारी जीवन में साहित्य की भी है। जो समाज स्त्री की प्रतिष्ठा को भूल जाता है वह साहित्य की कदर ही क्या करेगा?

जो मनुष्य जीवन-भर व्रत नियमादि किया करता है उसे यह होश नहीं रहता कि हम कहाँ थे और कहाँ जाते हैं। उसके लिए भूत और भविष्य दोनों शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारों का भी यही हाल तो नहीं हो गया? संस्कृत साहित्य के रहस्य को प्रकट कर देने वाले टीकाकार कम नहीं हैं। यदि साहित्य का कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारों की सेना इतनी बड़ी है कि वह जिस देश को चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्य को व्यापक दृष्टि से देखना किसी को सूझा ही नहीं। जिस तरह कालिदास पुष्पक-विमान पर बैठकर लङ्का से अयोध्या तक के प्रदेश का निरीक्षण विहग-दृष्टि से कर सके, अथवा यक्ष पर दया करके वह रामगिरि से अलकापुरी तक मेघ को भेज सके, उस तरह एक भी टीकाकार को यह नहीं सूझा कि वह साहित्य-खण्ड का समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस पाँच मनुष्यों का ही मनोरंजन कर सकती है उसका संगीत किसी महासभा में व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारों की दृष्टि भी एक सम्पूर्ण श्लोक के बाहर नहीं पहुँचती। ज्यादा से ज्यादा यदि उन्होंने यह बता दिया कि नान्दी का श्लोक सम्पूर्ण नाटक की वस्तुओं को किस तरह सूचित करता है, तो वे कृतार्थ हो जाते हैं। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराई में उतर सके हैं उतने विस्तार से देख नहीं सके। एक श्लोक के भीतर दस-पाँच अलंकारों की संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि एक सम्पूर्ण महाकाव्य या खण्डकाव्य किस तरह एक राग है? उसका आत्मा कहाँ है? इसका अपवाद रूप एक क्षेमेन्द्र गिना जा सकता है। इस काश्मीरी महाकवि ने अलंकार और रसों के बाद औचित्य का महत्व बतला दिया है। उसने एक ही कवि के एक श्लोक के रस निचोड़ने के बदले संस्कृत साहित्य के बत्तीस विख्यात कवियों की भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियों को लेकर उनके गुण और दोषों की विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषों को बताते समय अपने दोषों को भी ध्यान में लाना नहीं

भूला। तथापि यह कल्पना क्षेमेन्द्र को भी नहीं सूझी थी कि एक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य को लेकर उसके रहस्य की खोज की जाय। इसकी दृष्टि से औचित्य था—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काल देशे कुल व्रते।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे ॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यथाशिषि
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् !!

कितनी ही जगहों में औचित्य-विचार की चर्चा करके कवि रुक गया है। रवीन्द्रनाथ ने हमें साहित्य की ओर देखने को एक नई दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्य का निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओं की स्वयम्भू मूर्त्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणीसंहार' लिखता है, तब द्रोपदी का क्रोध, भीम की प्रतिज्ञा, कर्ण का मत्सर और अश्वत्थामा की जलन का चित्र खींचने के बाद वह राष्ट्रीय उत्थान और पतन की मीमांसा भी अपने ढङ्ग से करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठते हैं तब रघु के कुल की ही नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृति की प्रकृति और विकृति को अंकित कर देना चाहते हैं।

हमारे कवियों की कृतियों की ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टि से देखने की वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगों ने सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथ का आर्य-हृदय संस्कृत-साहित्य की ओर आर्य दृष्टि से ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस पाँच लकीरों से ही सम्पूर्ण चित्र को सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर लिखे पाँच-सात स्फुट निबंधों से ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्थान का इतिहास किस पुरुषार्थ को लेकर बैठा है, इत्यादि। संस्कृत कवियों में ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु उनमें ऐतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख दुःखों की प्रतिध्वनि उसके हृदयों से जरूर उठती है। राष्ट्र के उत्कर्ष के साथ वे आनंदित होते हैं और उसकी मूर्छा के साथ मूर्छित। लोगों का अधः-पात देखकर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेम भरे और मनोहर वचनों से समाज को सचेत करना चाहते हैं।

जहाँ शास्त्र का वश नहीं चलता, जहाँ नीतिशास्त्रकार 'ऊर्ध्ववाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छ्रणोति मे, में इस तरह अरराय-रादेन करते हैं, वहाँ कवि-जन अपनी सहृदयता से समाज के हृदय को जागृत करके समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर देते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और उनकी जाति के अनेक स्मृतिकार समाज पर जो प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं, उस प्रभाव को लुटेरों के प्रमुख बाल्मीकि एक अमर काव्य-द्वारा उत्पन्न कर सका है। श्रीशंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, षट्पदी के समान सुन्दर स्तोत्रों को लिखकर उन महापरिव्राजकाचार्य ने उससे कहीं बढ़कर दिग्विजय प्राप्त किया है।

शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खण्डन-मण्डन द्वारा विरोधियों की बुद्धि पर हठपूर्वक विजय प्राप्त करनी पड़ी, परन्तु जब वे परमहंस अपने सुन्दर स्तोत्रों का आलाप करते रहे होंगे तब लोक-हृदय स्वेच्छा से, राज-खुशी से पिंजड़े में आ गया होगा। ऐसे कवियों का हृदयगत भाव प्रकट करने के लिए उसके समान ही समर्थ कवियों की आवश्यकता थी। बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्यायशास्त्र के छिलके छीलने के बाद साहित्य-शास्त्र की 'सर्जरी' सीख कर तैयार हुए टीकाकारों का वह काम नहीं। बाल्मीकि, भवभूति, भास और कालिदास के समान कवियों ने रवीन्द्र के समान समालोचक को पाकर, अथ मे सफल जन्म अथ मे सफलाः क्रियाः, कहकर उसी तरह की कृतार्थता का अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लर का जन्म होने पर ब्रह्म देव को अपनी सृष्टि-रचना पर हुई होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियों की श्रद्धा रवीन्द्र-जैसे समानधर्मा को देखकर चरितार्थ हुई होगी।

जब पुराने टीकाकारों ने हमें अपेक्षित दृष्टि नहीं दी, तब पाश्चात्य पण्डितम्मन्य अध्यापकों ने हमें उल्टी ही दृष्टि दी। उन्होंने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिन्दी इतिहास में कुछ भी नहीं। यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिन्दी-काव्य सर्वदा निचली श्रेणी में गिने जाते हैं, इतना ही नहीं वरन् क्षेमं 'केनचिदिदुपाराडुतरुणा' के समान श्लोक जिस समाज में निर्माण हुआ, जो समाज किलों की दीवारों में नहीं, किन्तु वन-उपवन की गोद में ही परिवर्धित हुआ है, उस समाज के कवियों को निसर्ग निहारने को नेत्र नहीं हैं ऐसा कहने की भी ढिठाई करने में वे और उनके शिष्य नहीं हिचकते। हब्शी मनुष्य जबतक अपना-सा रंग और अपनी-सी नाम तथा होंठ किसी के नहीं देखते तब तक उसे कभी सुन्दर नहीं गिनते।

हिन्दुस्तान का इतिहास उज्वल है, व्यापक है और रहस्यपूर्ण है। पर वह यूरोपियन इतिहास से बिलकुल भिन्न है। रवीन्द्रनाथ ने हमें बतलाया है कि वह सरकारी तहखानों और तवारीख़ो में नहीं, बल्कि उस देश के साहित्य में मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय जीवन सजीव रूप में विद्यमान है। यह हमारी रंगभूमि तरह-तरह के उपकरणों से, 'ह्वाइट वे लेड ला' कम्पनी के 'शो रूम' का प्रदर्शन नहीं करती; इसका कारण हमारा जंगलीपन नहीं परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है जो यूरोपियन टीकाकारों की कल्पना में भी नहीं आ सकती। पर हमें यह समझाना रवीन्द्रनाथ के नसीब में ही यही बदा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ यक्ष के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नहीं; परन्तु रवीन्द्रनाथ ने तो उसी को अपना दूत बनाकर उसके द्वारा हमें प्राचीन समय के भारत का साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य इतिहास के पद को प्राप्त कर सकता है। उसे उन्होंने रामायण की मीमांसा करके सिद्ध किया है। इस तरह अनेक पद्धतियों से उन्होंने संस्कृत साहित्य का उद्घाटन किया है।

परन्तु रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा खास सोलहों आना प्रकट हुई है, उनके कुमारसम्भव और शाकुन्तल के निबन्धों में। जर्मन कवि गेटे की एक-श्लोकी टीका को लेकर कवीन्द्र चले हैं और उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण कृति है। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट के साथ शकुन्तला की तुलना करके शेक्सपियर के मुकाबिले में उन्होंने कालिदास की अभिरुचि की श्रेष्ठता को प्रकट करने के योग का भी बड़ी अच्छी तरह साधन किया है। शकुन्तला पर लिखा उनका निबंध एक अपूर्व योग है। कालिदास, गेटे, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ इन चार प्रतिभासम्पन्न, विश्वविख्यात महाकवियों का करावाश्रम में सम्मिलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नहीं। कवियों की वाणी में कल्पनाओं में चाहे जितने फव्वारे उड़ते हों तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नहीं होती। यह बात तो रवीन्द्रनाथ ने ही सबसे पहले इतनी सम्पूर्णता से प्रकट की है। उन्होंने बताया है कि उसमें तो व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन रहस्य का तत्त्व ज्ञान होता है, समाजशास्त्र और धर्म शास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र इनके अन्तिम सिद्धान्त का तर्क की दस्तंदाजी और गड़बड़ से बचाकर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्हें अनुप्राणित करते हैं और उसे जीवन के समान एक सम्पूर्ण और सजीव कृति निर्माण करते हैं। जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सृष्टि सभी एक

रूप है, ऋषियों के देखे हुए इस सिद्धान्त को कविजन हमारे सम्मुख मूर्तिमान खड़ा कर देते हैं। संस्कृत साहित्य में 'कवि' शब्द से जो भाव मन में उत्पन्न होते हैं वे अंग्रेजी में 'पोएट' शब्द से नहीं होते। कवि अर्थात् द्रष्टा, जो जीवन रहस्य को देखता है, जिसे इह और पर सृष्टि दोनों समान तथा प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद में उतर सकता है। जो संसार में रहते हुए भी इस संसार का नहीं वही कवि है। और कवि वही है जो चर्म-चक्षु से नहीं देखता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टि से नहीं होता और जो ऐसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसंवेद्य अनुभवों का सम्पूर्ण साक्षात्कार करके कि, जिनके लिए व्यावहारिक संसार में प्रमाण नहीं मिलता, उन सब अनुभवों को शब्द अथवा वर्ण के समान मर्यादित साधनों द्वारा दूसरों के लिए भी प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि वे हैं जो इस सृष्टि की— इस बाह्य-सृष्टि और अन्तः सृष्टि की आधार-स्वरूप ईश्वरीय योजना का, ईश्वरी लीला और ईश्वरी आनन्द का साक्षात्कार कर सकते हैं। वैदिक ऋषि जब ईश्वर-स्तुति की ऊर्मि के शिखर पर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वर को ही 'कवि' कहकर पुकारते हैं। इस सृष्टि को ईश्वर का काव्य बतलाते हैं। इसीलिए कवि का सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टि का रहस्य जाननेवाला। कालिदास ने जीवन के रहस्य को किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथ ने जाना और न जाना राघव भट्ट ने। इस रहस्य को जान सके गेटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियों की कृतियों पर टीकाकार तो बहुत हो गए हैं, परन्तु 'काव्येर उपेक्षिता' में रवीन्द्रनाथ ने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही हैं। 'काव्येर उपेक्षिता' एक साधारण टीका है। पर वह उतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ एक भी दूसरा मिबन्ध नहीं लिखते केवल वही एक निबन्ध लिख देते तो भी साहित्य-रसिकों को उनकी काव्य-शक्ति का पूरा पूरा पता लग जाता। मार्मिक पाठक के लिए यह जान लेने के लिए किसी भारी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि "चोखेर वाली' तथा 'नौक डूबी' उसी कवि के लिखे हैं जिसने 'काव्येर उपेक्षिता. में पत्रलेखा का विवेचन किया है।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टि का निरीक्षण करते ही नहीं उन्हीं पुरानी उपमाओं को दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वयं ही सृष्टि का निरीक्षण करते हैं और न काव्य का परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथ का वह निबंध पढ़ेंगे, जिसमें उन्होंने कादम्बरी का दर्शन कराया है तो अवश्य उनका भ्रम दूर हो जायगा। साहित्यकार जो बाणभट्ट की कादम्बरी को 'नारिकेल-पाक' कहते हैं, उसका यह बढ़िया से बढ़िया उदाहरण है। बाणभट्ट के काव्य-कान्तार में गँडे के

समान अकुतोभय संचार तो वही कर सकते हैं, वन-वाराह के समान वहाँ मुस्ता-क्षित भी वही कर सकते हैं हरिग के समान कल्पना-तृणांकारों को अर्ध-विलीढ़ करके इतस्ततः वही फेंक सकते हैं, अथवा अभिनव मधु-लोलुप भ्रमर के समान वही वहाँ स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं जिन्होंने हिमालय के समान पर्वत और मेघना पर पद्मा के समान नदियाँ देखी हैं अथवा जिन मनुष्यों ने पुष्प पक्षी तारे और लड़कों के साथ खेलने में बरसों व्यतीत कर दिए हैं। संस्कृत-साहित्य में अन्तःसृष्टि और बाह्य सृष्टि का जो सारूप्य और तादात्म्य है उसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथ को मिला है। इससे कालिदास, बाणभट्ट और बाल्मीकि के समान कविजन पुत्र-संक्रांत लक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये हैं।

जब से हिन्दुस्तान में युनिवर्सिटी स्थापित हुई तब से प्रत्येक ग्रन्थ का बहिरंग परीक्षण करने की प्रणाली बहुत ही बढ़ गई। काल-निर्णय, पाठ-भेद की मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम सब खूब सीख गये हैं और यदि एक ग्रंथकार के नाम पर अनेक ग्रंथ हों तो हम यह भी अनुभव करने लग गये हैं कि एक ही नाम के अनेक लेखक हो गये होंगे, और इन ग्रंथों के लेखक भिन्न-भिन्न होंगे। सत्यान्वेषण की दृष्टि से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तो जरूर है। परन्तु यदि हम बगीचे की लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतर के वृक्षों की तफसील और गिनती आदि ऊपरी बातों की ही जानकारी करने में सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलों की सुगन्धित और फलों का स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्त के समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि "इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षा का आदर्श और शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन करना चाहते हैं। पाश्चात्य आदर्श को गुरु स्थान में रखकर उस गुरुदृष्टि से संस्कृत साहित्य की खोज करना हम नहीं चाहते हम अपने प्राचीन कवियों के समीप शिष्य-भाव से सम्मिलित हो जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासा से उनसे प्रश्न करना चाहते हैं। ऐसे प्रसंग पर संस्कृत साहित्य में यह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे कवि सम्राट् ने कहा है और जिनके लिए हमें अभिमान है।

साहित्य और जीवन

बनारसीदास चतुर्वेदी

कुछ वर्ष पहले की बात है। उत्तर-भारत के एक प्रसिद्ध नगर में प्लेग फैलने की आशंका थी। चूहे मर रहे थे। दैवदुर्विपाक से इन्हीं दिनों वहाँ के साहित्य-रसिकों के हृदय-सरोवर में काव्य-प्रेम की अदम्य मौज या लहर आई हुई थी। जगह-जगह कवि-सम्मेलन हो रहे थे। कुछ सज्जन हमारे पास भी पधारे और बोले—"आप भी अजीब आदमी हैं। इस नगर में रहते हुए भी आप स्थानीय कवि-सम्मेलनों में भाग नहीं लेते! मालूम होता है कि आप में साहित्य-प्रेम का बिल्कुल ह्रास हो गया है। लोग आपकी बेहद निन्दा कर रहे हैं।......"

मैंने उस समय उन काव्य-प्रेमियों की सेवा में यही निवेदन किया—"लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं, इसकी मुझे चिन्ता नहीं।" "They say, what they say, let them say'—'वे कहते हैं, क्या कहते हैं, कहने दो।' प्रत्येक स्वाभिमानी साहित्य-सेवी को ये तीन वाक्य अपने कमरे में टाँग देने चाहिए। पर मैं, अगर गुस्ताख़ी माफ़ हो तो, एक सवाल आपसे पूछता हूँ—"जनाब, यह तो फरमाइये कि जब शहर में चूहे मर रहे हों, उस वक्त क्या मुनासिब है—कवि-सम्मेलन करना या चूहे पकड़ना?"

आगन्तुक महानुभाव हँसने लगे, और उनमें से एक बोले—"तो क्या आप कवियों से चूहे पकड़वायँगे?"

मैंने कहा—"इसमें हर्ज ही क्या है? कवित्व क्या जीवन से और मनुष्यत्व से भी अधिक ऊँची चीज़ है? अपने घर, मुहल्ले अथवा नगर के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए अगर हम साहित्य-सेवियों को पाखाने भी साफ़ करने पड़ें, मोरियाँ भी धोनी पड़ें, तो उनके लिए हमें तैयार रहना चाहिए। चूहे पकड़ना तो एक मामूली-सी बात है। मैं तो गद्य-लेखक हूँ, यदि कवि लोग अपना दर्जा कुछ ऊँचा समझते हैं, तो हम गद्य-लेखक पैसा चूहा ले लेंगे, कवियों को दो पैसे चूहे का हिसाब पड़ जायगा! आप और क्या चाहते हैं?"

मामला हँसी में उड़ गया, और मैं भी कवि-सम्मेलन और प्लेग तथा कवि और चूहों के क़िस्से को भूल गया। पर तीन-चार महीने बाद फिर वही प्रश्न बड़े विकट रूप में सामने आ गया!

साहित्य-कलरव या मोरी-मच्छर?

एक सौ साढ़े चार डिग्री का बुख़ार चढ़ा हुआ था। सिर पर बर्फ़ रखी

जा रही थी। यह घटना हमारे जन्मस्थान फीरोज़ाबाद की है, जो चूड़ियों के लिए हिन्दुस्तान-भर में प्रसिद्ध है और जो दरअसल डबल कीर्ति का मुस्तहक़ है—यानी सुन्दर चूड़ियों के लिए और गन्दी नालियों के लिए भी। हाँ, तो मैं बुख़ार में पड़ा बड़बड़ा रहा था, और आप जानते ही हैं कि जब टेम्परेचर हाई होता है, तब कल्पनाशक्ति और भी तीव्र हो जाती है। मैं सोच रहा था कि यह मलेरिया-बुख़ार है, मलेरिया मच्छरों से पैदा होता है और मच्छर पैदा करने के कारख़ाने हमारे आस पास पड़ोस में ही बहुत-से खुले हुए हैं। हमारे चौबे मुहल्ले में ही, जिसकी जन-संख्या जन-बच्चा-सहित कुल जमा २००-२२५ होगी, कई डाक्टर उत्पन्न हो चुके हैं, और वे ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर पहुँच चुके हैं तथा विद्यमान हैं; पर मुहल्ले की गन्दगी ज्यों-की-त्यों बनी है! और हमारे घर से सौ गज़ की दूरी पर हमारे एक भूतपूर्व सहपाठी के एक सुपुत्र रहते हैं, जिन्होंने अपनी अनुभवहीनता के कारण 'साहित्य-कलरव' नामक मासिक पत्र के ५।७ अंकों में चार सौ रुपये घाटे के दे दिये हैं। ये रुपये मोरी में गये। मैं सोचता था, 'वर्तमान परिस्थिति में मोरियों के मच्छरों को मारना अधिक लाभदायक है या 'साहित्य-कलरव' निकालना ?'

इस गम्भीर प्रश्न पर मैंने बहुत देर तक विचार किया, और मेरे साहित्य-सेवी मित्र मुझे क्षमा करें, यदि मैं उन्हें बतलाऊँ कि मेरा फ़ैसला 'साहित्य-कलरव' के ख़िलाफ़ रहा। इसके बाद मुझे तीन बार मलेरिया-बुख़ार इन चार महीनों में आ चुका है, और हर बार इस विषय पर विचार करता रहा हूँ कि आख़िर हमारी साहित्य-सेवा का जीवन से कुछ सम्बन्ध भी है ?

अभी मैंने पत्रों में भारत-सरकार की रिपोर्ट पढ़ी है कि भारतवर्ष में ६० लाख आदमी मलेरिया से बीमार पड़ते हैं और १३-१४ लाख इसी के कारण काल-कवलित हो जाते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि हम निरर्थक कवि-सम्मेलनों को बन्द करके साधारण जनता में कुनैन बाँटें!

२८ वर्ष का नशा

ऊपर की बात हमारे कवि-बन्धुओं को—ख़ास तौर पर दंगली कवियों को—भले ही कुनैन की तरह कड़वी लगे; पर अब वक्त आ गया है, जब मीठी-मीठी बातें कहने के बजाय स्पष्टवादिता से काम लिया जाय। हम लोगों को—लेखकों और कवियों को—कीर्त्ति का नशा रहता है, और इस नशे का मुझे भी कुछ तजुर्बा है। पत्रों में लेख छपते हैं, अपना नाम छापे में छपा देखकर बड़ी खुशी होती है, और लेख लिखे जाते हैं, फिर छपते हैं और इस

प्रकार लेखक को प्रसिद्धि मिल जाती है। यह कोई नहीं पूछता कि वास्तविक जीवन से उन लेखों का कुछ सम्बन्ध भी है! जून सन् १९१२ में मेरा प्रथम लेख काशी के 'नवजीवन' में छपा था, और उसका नाम था 'स्वावलम्बन'। यह अंग्रेज़ी पुस्तक 'सेल्फ हेल्प' (Self-help) के आधार पर लिखा गया था। यदि लेखक के अनुसार मैंने अपना जीवन-क्रम बनाया होता, तो आज आप मुझे अवश्य ही स्वावलम्बी पाते। पर हम लेखक लोग, बक़ौल बाबा तुलसीदास, "पर उपदेश कुशल" हैं। अट्ठाईस वर्ष तक ख़ुराफ़ात लिखने के बाद भी जीवन-सम्बन्धी मेरा व्यावहारिक ज्ञान बहुत ही कम बढ़ा और ऐन मौके पर आकर परीक्षा में मैं बिल्कुल फेल हो गया।

पूज्य द्विवेदीजी के यहाँ जब मैं तीसरी बार दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा करने गया था, तब तक ग्राम-संगठन पर 'विशाल भारत' में अनेक लेख छाप चुका था। द्विवेदीजी मुझे अपने बाग की ओर ले गये। मार्ग में उन्होंने कुछ प्रश्न किये; पर चौबेजी उनके विषय में कोरमकोर थे। कई वृक्षों के नाम उन्होंने पूछे; पर मैं उन्हें पहचान भी नहीं सका—न रीठे का पेड़ पहचान सका और न महुए का। बातचीत के सिलसिले में द्विवेदीजी ने पूछा—"अपने आगरा ज़िले को भली भाँति जानते हो? अपने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट पढ़ी है?"

मैं चुप था, क्या जवाब देता! फिजी, केनिया, जंज़ीबार, युगाण्डा, टांगानिक्या इत्यादि के चक्कर में ज़िन्दगी के बीस वर्ष बरबाद कर चुका था; पर न तो आगरे ज़िले का कभी भ्रमण किया था और न कभी आगरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट ही पढ़ी थी! कभी क्यों, आज तक नहीं पढ़ी।

पूज्य द्विवेदीजी झुँझलाकर बोले—"आख़िर बैठे-बैठे क्या किया करते हो? कुछ पढ़ते लिखते भी हो? न तुमने काश्तकारी-क़ानून का अध्ययन किया है, न ग्रामीण पंचायतों के बारे में कुछ जानते हो। खेती और किसानों के रहन-सहन के बारे में तुम्हारा ज्ञान होगा ही क्या! सम्पादक यों ही बन बैठे हो?"

बड़ी शर्म आई। हिन्दी-पत्रकारों का इन विषयों पर कितना ज्ञान है, यह मैं कह नहीं सकता। लेकिन अगर कहीं हिन्दी-पत्रकारों के लिए कोई विद्यालय खुले, तो छात्र के रूप में उसमें भर्ती होने की इच्छा ज़रूर है।

पत्रकार-विद्यालय और समाज-विज्ञान-कालेज

हिन्दी-जगत् में इस समय इन दो विद्यालयों की सख्त ज़रूरत है।

नये-नये कालेज हमारे यहाँ खुलते जाते हैं, और उनमें वे ही पुराने विषय पढ़ाये जाते हैं - ऐसे विषय, जिनका विद्यार्थी के भावी जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं ! पत्रकार प्रौढ़ों के शिक्षक हैं, जन-मत को बनाना-बिगाड़ना उनके हाथ में है और उनके द्वारा समाज की बड़ी भारी सेवा हो सकती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रयाग, काशी, दिल्ली, पटना, आगरा और नागपुर विश्वविद्यालयों द्वारा इन विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध किया जाय। बम्बई के 'ताता-समाज-विज्ञान-विद्यालय' की तरह की संस्था उत्तरी-भारत में भी होनी चाहिए। जो ग्रन्थ वहाँ अंग्रेज़ी में पढ़ाये जाते हैं, उनका हिन्दी में अनुवाद कराना चाहिए, अथवा वैसे ही मौलिक ग्रन्थ लिखाये जाने चाहिएँ। दूरदर्शिता के ख़याल से यह काम अत्यन्त आवश्यक है। जब भारत स्वधीन हो जायगा—आज न सही, आठ-दस वर्ष में ही सही—तो उस समय स्थानीय प्रश्नों का महत्व अखिल भारतीय प्रश्नों के समान ही हो जायगा। उस समय गुलामी का रोना रोने और विदेशी शासकों की निन्दा करने के बजाय हमें देश के कोने-कोने में छोटे-बड़े नगरों तथा ग्रामों में समाज-सेवा के अनेक रचनात्मक कार्य प्रारम्भ करने पड़ेंगे। उन कार्यों के लिए कार्यकर्ताओं को अभी से विशेष ट्रेनिंग देने की जरूरत है।

समानशील लेखकों का विचार-परिवर्तन

उपर्युक्त प्रश्न पर तथा अन्य ऐसे ही सवालों पर विचार करने के लिए उन लेखकों का, जिनकी रुचि मुख्यतया समाज-सेवा की ओर है, मिलना ज़रूरी है। यह काम कोई परोपकार का नहीं, बल्कि स्वार्थ का है। हम लोग अपने आसपास के मानव-जगत् से ही नहीं, पशु-पक्षी और वृक्ष-जगत् से भी बहुत कम परिचित हैं। बड़ी बेशर्मी के साथ मैं आपके सामने अपने अज्ञान का एक उदाहरण और पेश करूँगा। ओरछा-राज्य के रेवेन्यू-कमिश्नर ने दो वर्ष हुए मुझे दावत दी थी। उस समय उनके आँगन में एक पौधे को लगा देख मैंने कहा—"ठाकुर साहब, यह क्या वृक्ष है ?"

वे हँसकर बोले—"चौबेजी, आप आलू भी नहीं पहचानते !"

चौबेजी चालीस-पैंतालीस वर्ष से आलू खाते आ रहे थे; पर आलू का पौधा ज़िन्दगी में पहली ही बार देखा था ! इसके बाद उत्साह में भरकर हमने किस प्रकार आलुओं की खेती की और साम्यवाद का एक नुस्ख़ा कैसे ईजाद किया, इसकी कहानी फिर कभी सुनायँगे। इस वक्त सिर्फ़ इतना बतला देना काफ़ी होगा कि आलुओं की खेती पर इक्कीस रुपये व्यय करके कुल जमा एक

रुपये पाँच आने के आलू हमने उगाये थे, और इस प्रकार नक़द १६ रुपया ११ आने का मुनाफ़ा उल्टी दिशा में उठाया था !

पशु-पक्षी-जगत्

पक्षियों से परिचय की बात लीजिए। कौआ, तोता, मोर, खुटक मढ़ैया, पिड़कुलिया, गलगलिया, चील, मैना, कोयल, उल्लू इत्यादि पन्द्रह-बीस पक्षियों को छोड़कर और किसी को मैं नहीं पहचानता, और सो भी इनकी शकल से परिचित हूँ। इनके स्वभाव, रहन-सहन इत्यादि के विषय में मेरा ज्ञान अत्यल्प है। चिड़ियों के प्रवास के बारे में मैंने पत्रों में पढ़ रखा था; पर प्रवासी चिड़ियों को मैंने तब तक पहचाना ही नहीं था, जब तक कि ओरछा-राज्य के सुन्दर सरोवरों पर उनके झुण्ड-के झुण्ड उतरते हुए नहीं देखे। इनमें से सहस्रों साइबेरिया से उड़कर भारतवर्ष को आती हैं और फिर वहीं वापस लौट जाती हैं। चिड़ियों के विषय में कोई भी उत्तम पुस्तक हमारी भाषा में नहीं है। बुलबुल भी मैंने बहुत वर्षों बाद देखी और चण्डूल को तो आज तक नहीं देखा ! मैं चण्डूल को कोई बहुत ही भद्दा-भोंड़ा पक्षी समझे हुए था। पर झाँसी के कविवर रामचरणजी हयारण ने मुझे बतलाया कि एक-एक चण्डूल की क़ीमत सात-सात सौ आठ-आठ सौ रुपये होती है। "बाद मुद्दत के फँसा है यह पुराना चण्डूल"—इस पद्य को पढ़कर मैंने अपने हृदय में चण्डूल के प्रति जो भ्रमात्मक धारणा स्थापित कर ली थी, वह मुझे सहर्ष दूर कर देनी पड़ी।

और अब अड़तालीस वर्ष की उम्र में मैंने 'बुलबुल का आशियाना' भी देख लिया है। एक बेवकूफ़ी मैंने की। बुलबुल के घोंसले को मैंने कौतूहलवश बहुत नज़दीक से देखा और कई बार देखा। इस कारण उस लज्जाशील भयभीत बुलबुल ने वह आशियाना छोड़ ही दिया ! तब मैंने उस पद्य का मतलब समझा—'बुलबुल ने आशियाना चमन से उठा लिया।'*

चिड़ियों के स्वभाव को अध्ययन करना और उनके विषय में ग्रन्थ लिखना कोई आसान काम नहीं है। यह भी कोई महात्माजी का जीवन-चरित

---

*इस सिलसिले में एक खुशख़बरी यह भी सुना दूँ कि गत ६ अगस्त को मैंने हिन्दी-नायिकाओं के 'प्रानन के प्यासे' पपीहा को भी देख लिया है। प्राचीन संस्कारों के कारण मन में आया कि इस हत्यारे पक्षी को गोली मार दूँ; पर दो बन्दूकें पास रहने पर भी निशाना लगाना नहीं सीखा ! ख़ैर, पपीहा बच गया।—लेखक

नहीं है, जो कि इधर-उधर से कटिंग लेकर दस-बारह दिन में तैयार कर दिया जाय ! एक-एक चिड़िया के लिए लेखक अपना जीवन खपा सकता है; पर हम लोग तो 'काता और ले दौड़े' के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। पुरानी लकीरों पर चलने में ही हमें आनन्द आता है। शायर-सूर-सपूतों की तरह हिन्दी-लेखक बिना लीक चलना कब सीखेंगे ?

मट्ठे बैल और चाय की भैंस

पशुओं के विषय में भी हमारा ज्ञान बहुत कम है। नर-पशुओं की बात जाने दीजिए, उन्हें तो हम थोड़ा बहुत जानते भी हैं और वे भेड़ियों की तरह हर मुल्क और मिल्लत में पाये जाते हैं। मट्ठे बैल का महावरा मैंने बहुत सुन रखा था; पर उनके दर्शन किये कुल साल भर ही हुआ है। अपने बगीचे के लिए सत्तर रुपये ख़र्च करके एक जोड़ी बैल मउरानीपुर से मँगाये। जब वे पधारे, तो भावुकतावश मैंने उनकी खूब आवभगत की। हमारे एक किसान-बन्धु ने कहा, ये दूर से चलकर आये हैं, इसलिए थकावट दूर करने के लिए इन्हें ठर्रा शराब मिलनी चाहिए। अच्छा साहब, महुए की बनी हुई दो बोतल शराब के लिए बारह आने पैसे भी दिये गये। दो तीन दिन उन्हें ख़ूब आराम (जिसे साहित्यिक भाषा में 'पूर्ण विश्राम' कहना चाहिए) करने दिया, फिर अपने आदमियों से कहा कि इनसे काम लो। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों बैल मेरी तरह ही आरामतलब निकले। लेट गये और उठने का नाम ही नहीं लेते ! पूँछ मरोड़ी गई, ठुक-पिट्टा भी हुई, अनेक उपाय किये गये; पर वे तो अपने सिद्धान्त के पक्के घोर सत्याग्रही थे। तब लोगों ने मुझे समझाया, मट्ठे बैल इन्हीं को कहते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह शिक्षा मुझे बहुत महँगी पड़ी। बड़ी मुश्किल से वे बदले गये, और मेरी गाँठ के २० बीस रुपये ख़र्च कराके और मुझे बछिया का ताऊ सिद्ध करके वे चले गये ! फिर भी चाय की भैंस के मुक़ाबले में यह सबक़ सस्ता रहा। नक़द बयालीस रुपये में मैंने एक भैंस खरीद ली है, जो बस चाय बनाने लायक़ दूध देती है ! उसका जीवन-चरित मैं लिख रहा हूँ। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि मैं 'हरजाई' शब्द का अभिप्राय अब समझ गया हूँ और मवेशीख़ाने की उपयोगिता में विश्वास करने लगा हूँ।

सपरिश्रम सरकारी आतिथ्य

कहीं पाठकों को यह भ्रम न हो जाय कि मैं ही हिन्दी-जगत का 'मूर्ख-शिरोमणि' हूँ, यह बात बतला देना ज़रूरी समझता हूँ कि हमारे साहित्य-संसार

में कितने ही ऐसे व्यक्ति होंगे, जो आस पास के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा मानव-जगत् के विषय में मुझसे भी अधिक 'लाल बुझक्कड़' हैं। हम लोग तो किसी प्रकार क्षमा भी किये जा सकते हैं, पर कितने ही लेखक ऐसे हैं, जिन्हें 'जरायम-पेशा' (Criminal tribe के) कहना चाहिए। उदाहरण के लिए उन व्यक्तियों को लीजिए, जिन्होंने हिन्दी में कामशास्त्र पर किताबें लिखी हैं। उनमें दो-तीन व्यक्तियों को छोड़कर शेष का ज्ञान इस विषय पर न कुछ के बराबर है। बस, इधर-उधर से लेकर चाहे जो आदमी कामशास्त्र पर पुस्तक लिख देता है! आप जानते ही हैं कि मैं साहित्य में किसी भी सरकार के शासन का घोर विरोधी हूँ। सार्वजनिक मत या 'पब्लिक ओपिनियन' का नियन्त्रण ही इसके लिए पर्याप्त समझता हूँ। फिर भी यदि कोई सरकार हिन्दी के उन कामशास्त्रियों को, जिन्होंने अनधिकारपूर्वक इस विषय पर छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं, पकड़-पकड़कर तीन-तीन वर्ष के लिए अपने यहाँ सपरिश्रम आतिथ्य ग्रहण कराय, तो मैं एक शब्द भी इस सरकारी मेहमानदारी के विरोध में नहीं लिखूँगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय पर अधिकारी व्यक्तियों द्वारा सरल-से-सरल भाषा में और सस्ते-से-सस्ते ग्रन्थ लिखाये जायँ। सेक्स या स्त्री पुरुष-सम्बन्ध का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और विद्यार्थी-जीवन में ही उसकी मोटी-मोटी बातें सात्विक ढंग पर पढ़ाई जानी चाहिए। वात्स्यायन ने ज़िन्दगी भर तपस्या करके कामशास्त्र पर अपना ग्रंथ लिखा था, और वात्स्यायन के आधुनिक अवतार ऋषिवर हैवलॉक एलिस पचास वर्ष तक इसी विषय का अध्ययन करते रहे; पर हमारे हिन्दी-लेखक इसकी ज़रूरत ही नहीं समझते!

गृहस्थों का अज्ञान

साधारण गृहस्थ लोग भी इस विषय में बहुत कम जानते हैं, और जो कुछ ज्ञान उन्हें प्राप्त होता भी है, वह बहुत धक्के खाकर और अनेक दुर्घटनाओं के बाद। हमारे एक सबसे बड़े शत्रु या यों कहिये सबसे बड़े मित्र हैं, जिन्हें 'प्रसूति' के अर्थ तब मालूम हुए, जब आप 'प्रसूति' में अपनी पत्नीको खो बैठे! चार बच्चों के बाप होनेपर भी आप प्रसूति के विषय में सोलह आने अनभिज्ञ थे!

प्रकाशक क्या कर रहे हैं?

सरकारी शराबबन्दी तथा मादक-द्रव्य-निवारिणी सभाओं के तमाम व्याख्यानोंके बावजूद भी हिन्दी के ६५ फ़ी सदी प्रकाशक भाँग, गाँजा या अफ़ीमका अमल करते हैं या चरस की दम लगाते हैं, यह मेरा अटल विश्वास है।

आप उनके यहाँ से प्रकाशित ग्रन्थों की सूची देख जाइये, तो आपको फ़ौरन पता लग जायगा कि इन प्रकाशकों को समयकी गतिका कुछ भी ख़याल नहीं है, जीवन के प्रश्नोंसे उनका कुछ भी परिचय नहीं है और उनमें से अधिकांश अपने को सर्वज्ञ समझे बैठे हैं। विलायत के अच्छे-अच्छे प्रकाशक अपने यहाँ भिन्न-भिन्न विषयोंके विशेषज्ञ रखते हैं, जिनकी सम्मतिसे वे ग्रन्थ लेते और छपाते हैं; पर हमारे यहाँ के प्रकाशक मुफ्त में भी विशेषज्ञों की सम्मति नहीं लेना चाहते! हाँ, पुस्तकोंको छपाने के बाद बिना जिल्द की एक प्रति भेजकर उसपर विस्तृत आलोचना चाहनेवाले प्रकाशकों की हमारे यहाँ कमी नहीं! अपनी बारह आने की किताब पर (जो उन्हें बारह पैसे में पड़ी होगी) आपके बारह रुपये का समय माँगने के अव्यापार में वे अवश्य कुशल हैं। यदि प्रकाशकों में कुछ भी बुद्धि होती, तो वे स्वयं आपस में मिलकर इस बात की जाँच के लिए एक कमेटी मुकर्रर करते कि साधारण जनता अथवा विशेष वर्गों के लिए किस-किस प्रकार के साहित्य की ज़रूरत है।

आखिर हम क्या चाहते हैं?

पाठक लोग पूछ सकते हैं, "आप कवियों से चूहे पकड़वाना चाहते हैं, 'साहित्य-कलरव' बन्द कराके मोरीके मच्छरोंपर धावा बोलना चाहते हैं, कामशास्त्री लेखकों को जेलख़ाने भेजना चाहते हैं, फिर आख़िर आप चाहते क्या हैं? क्या कला और सौन्दर्य के प्रति आपके हृदय में कुछ भी प्रेम नहीं है?" ऐसे प्रश्न-कर्ताओं की सेवा में मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैं कला तथा सौन्दर्य का उतना ही प्रेमी हूँ, जितना कि एक मामूली लेखक को होना चाहिए; पर हर चीज़ का एक वक्त होता है, और युग-धर्म के अनुसार कला और सौन्दर्य का उपयोग विशेष उद्देश्यों को लेकर होना चाहिए। यदि आपके नगरके शौचालय अत्यन्त गन्दे हैं और उनसे हर साल हैज़ा फैलता है, तो आपके यहाँ की साहित्य-समिति पर जितना रुपया व्यय होता है, उसमें से कुछ अंश इस गन्दगी को दूर करनेके लिए ख़र्च होना चाहिए। आख़िर वह हमारे हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी अस्वच्छता है, जो प्रकट रूपमें हमारी गन्दी गलियों तथा सड़कों के रूपमें सामने आती है। सुप्रसिद्ध नीग्रो लीडर बुकर टी० वाशिंगटनने कहा था—"किसी जाति की सभ्यता या असभ्यता का अन्दाज़ उसके पाख़ानों की सफ़ाई या गन्दगीको देखकर लगाया जा सकता है।"

आयरलैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि तथा कलाकार जार्ज रसेल (ए० ई०) ने अपनी पुस्तक 'National Being' में एक बड़े मार्के की बात लिखी थी—

"सभी व्यक्तियों का यह कर्तव्य है, यह उनकी जिम्मेवारी है कि वे अपने अन्तर में जिस सौन्दर्यकी कल्पना करते हैं, तदनुसार यथासम्भव अपनी बाह्य-परिस्थिति को भी बनायँ। सौन्दर्य-प्रेमी आदमी कभी ऐसे घर में रहना पसन्द नहीं करेगा, जहाँ सब चीज़े विकृत रुचिकी परिचायक हों। बुद्धि-प्रधान मनुष्य अव्यवस्थित समाजसे घृणा ही करेगा। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि बाह्य-परिस्थितियों से मनुष्यों के आन्तरिक जीवन का पता लग सकता है। आयरलैंडके वे गन्दे ग्राम तथा छोटे नगर, जहाँ शराबकी दूकानोंकी भरमार है, जहाँ स्वच्छता तथा सुन्दरता की सर्वथा उपेक्षा की जाती है, दरअसल उनके निवासियों के चरित्र के अनुरूप ही हैं, उनके गन्दे रहन-सहन के प्रतीक हैं। जभी इन निवासियों में बौद्धिक जीवन का विकास होगा, तभी ये चीज़े बदलेंगी; लेकिन इसके भी पूर्व उनमें आध्यात्मिक भावना का प्रवेश होना चाहिए। ज्यों-ज्यों व्यक्तियों के चरित्रों में परिवर्तन आता जाता है, त्यों-त्यों घर-घर और ग्राम-ग्राम में संस्कृति तथा सभ्यताका रूप भी बदलता जाता है। जब हम राष्ट्रकी आत्मामें एक उच्च जगत का निर्माण करना प्रारम्भ कर देते हैं, तब हमारा देशका बाह्य रूप भी सुन्दर तथा सम्मान योग्य भी बन जाता है।......कोरमकोर कर्मशील पुरुषों की अपेक्षा हमें इस समय ऐसे विद्वानों की—अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, विचारकों, शिक्षकों विशेषज्ञों तथा साहित्य सेवियों की—अधिक आवश्यकता है, जो जातीय ज्ञान के क्षेत्रको, जो इस समय गम्भीर रेगिस्तान के समान है, विचारों की धारा से सींचकर जरखेज़ बना दें।"

कवीन्द्रका आदेश

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी युग-धर्म के तकाज़े को अपनी पुस्तिका 'City and Village' (नगर और ग्राम) में बड़ी ख़ूबीके साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है: —

Our object is to try to flood the choked bed of village life with the stream of happiness. For this the scholars, the poets, the musicians, the artists, have to collaborate, to offer their contributions. Otherwise they must live like parasites. sucking life from the people and giving nothing back to them. Such exploitation gradually exhausts the soil of life, which needs constant replenishing by the return to it of life, through the

completion of the cycle of receiving and giving back. अर्थात्—'हमारा उद्देश्य यह है कि ग्राम-जीवन की नदी की तह में, जो झाड़-झंखाड़ों और कूड़ा-करकटों से भर गई है और जिसमें प्रवाह नहीं रहा, आनन्द की नहर की बाढ़ ला दें। और इस कार्य के लिए हमें विद्वानों, कवियों, गायकों तथा कलाकारों के सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है। ये सब मिलकर अपनी-अपनी भेंट (शुष्क ग्राम-जीवन को सरस बनाने के लिए) लायँगे। यदि ये लोग ऐसा नहीं करते, तो समझना चाहिए कि ये जोंक की तरह हैं, जो ग्रामवासियों का जीवन-रस चूस रहे हैं और उसके बदले में उन्हें कुछ भी नहीं दे रहे। इस प्रकार का शोषण जीवन-रूपी भूमि की उर्वरा-शक्ति को नष्ट कर देता है। इस भूमि को बराबर जीवन-रस मिलता ही रहना चाहिए, और उसका तरीक़ा आदान-प्रदान ही है; जो उससे कुछ ले, वह उसे किसी रूप में वापस दे और इस प्रकार दान-प्रतिदान का चक्र बराबर चलता रहे।"

कवीन्द्र ने इन थोड़े-से शब्दों में लेखकों, कवियों, गायकों और कलाकारों के लिए एक महान सन्देश दे दिया है। कवीन्द्र कोरमकोर कल्पनाशील व्यक्ति ही नहीं हैं। उन्होंने जीवन को पूर्ण रूप में देखा है, और मानव-समाज के सर्वांगीण विकास के लिए उनका आदर्श, जिसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने शान्ति-निकेतन, विश्व-भारती और श्रीनिकेतन की स्थापना की है, हिन्दी-जनता के लिए अनुकरणीय है। उनका श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतनका पूरक है। वे जीवन को शुष्क नहीं बनाना चाहते। उनके वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव को जिन्होंने देखा है, वे कह सकते हैं कि कवीन्द्र जीवन को एकांगी बनाने के सख्त विरोधी हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दी लेखकों, कवियों, गायनाचार्यों और विद्वानोंका कोई डेपूटेशन शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन की यात्रा इस उद्देश्य से करता कि हम वहाँ की विशेषताओं का अध्ययन करके उन्हें हिन्दी-भाषा-भाषियों की संस्थाओं में लायँगे। कवीन्द्र रवीन्द्र वस्तुतः महान कर्मयोगी भी हैं।

सबसे बड़ा कवि कौन है ?

यदि कवि के मानी हैं द्रष्टा, जो बहुत दूर की देख सके, जो कल्पना के आकाश में विचरण कर सके, यही नहीं, जो अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता हो और जिसका व्यक्तित्व उसके प्रत्येक वाक्य एवं प्रत्येक शब्द के पीछे बोलता हो, तो यह कहना पड़ेगा कि महात्मा गांधी इस युग के सबसे महान कवि हैं। कोरमकोर छन्दबद्ध पद्य लिखनेवाले जीव कवि नहीं। किसी महान लेखक ने कहा था—"Thought without action is

abortion." यानी "कोरमकोर विचार बिना कार्य के वैसा ही है, जैसा गर्भपात।" और हमें अपने साहित्य-क्षेत्र को इस पाप से—शक्ति के इस अपव्यय से—बचाना है।

हमारा ध्येय क्या हो ?

लेखक का काम ख़ास तौरपर दुभाषिये का है। वह प्रकृति का दुभाषिया मानव-समाज के लिये है और स्वयं मानव-समाज के एक भाग का दूसरे भाग के लिए। विश्वमें तथा मानव-जगतमें इस समय जो इतना कलह मचा हुआ है, उसका एक कारण यह भी है कि संसार में उपयुक्त दुभाषियों की कमी है। इसके सिवाय अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध संग्राम करने के लिए कटिबद्ध रहना भी लेखक का ही कर्तव्य है। यह ज़माना विचार-जगत् में विचरने का नहीं है, यह है अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का युग। किसी ने रोमाँ रोलाँ से पूछा था—"आप नवयुवकों के लिए क्या सन्देश देंगे ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"नवयुवकों को मेरा सन्देश एक वाक्य में आता है—विचारों से कार्य को अलग मत करो। कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो निकट का, अभी हाल का और दूसरा दूर का, यानी भविष्य का। ऐसा न होना चाहिए कि दूर के कार्य के कारण हम वर्तमान कर्तव्य की उपेक्षा करें अथवा वर्तमान कार्य हमारी दृष्टि को संकुचित कर दे और विचारों का क्षितिज हमारी आँखों से ओझल ही हो जाय। जो 'बुद्धि-जीवी' वास्तव में सच्चा और सजीव है, वह उपर्युक्त दोनों कर्तव्यों को साथ-साथ निबाहेगा, वह एक के लिए दूसरे का परित्याग न करेगा। जो विचारक है, वह अपने विचारों द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों की धारा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेगा। जो विचार क्रियाशील नहीं है, वह विचार दर असल विचार ही नहीं है, वह तो कोई स्थिर चीज़ है—मुर्दा है ! आजकल हमारे समाज के विशेष व्यक्ति जिस सौन्दर्य-उपासना का ढोंग रचते हैं और 'विचारों का उद्देश्य विचार' बतलाते हुए कार्य-क्षेत्र से भागते हैं, वह सौन्दर्यो-पासना वास्तव में बाँझ है और वह पतन के गड्ढे के किनारे पर ही है। उसमें मुर्दे की सड़ाँद आने लगी है। जो क्रियाशील है, वही जीवित है।"

रोमाँ रोलाँ का कथन वस्तुतः सोलह आने ठीक है। हमारे जो लेखक अथवा कवि केवल अपने मन-मन्दिर में प्रगतिशील बनने का अभिमान करते हैं; पर जिनके जीवन के रहन-सहन तथा नित्यप्रति के कार्यों में वही पुरानी प्रति-क्रियात्मक पद्धति विराजमान है, वे साधारण जनता को कभी स्फूर्ति दे सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। जिनका हम उद्धार करना चाहते हैं, उनके बीच में जाने से झिझकते हैं, इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है ! और

सच तो यह है कि यह 'उद्धार' शब्द ही ग़लत है। हमें दूसरों का नहीं, अपना 'उद्धार' करना है।

साहित्य और जीवन का सम्पर्क

एक वाक्य में यों कहिये, हम साहित्य को अपने चारों ओर के जीवन के सम्पर्क में लाना चाहते हैं। चारों ओर से हमारा अभिप्राय केवल अपने ग्राम, नगर या मंडल अथवा ज़िले का ही नहीं है। संसार की प्रगति से जो नावाक़िफ़ है, जगत् की घटनाएँ जिसे प्रभावित नहीं करतीं, उनके प्रति जो संवेदनशील नहीं है, वह दरअसल लेखक या कवि नहीं। उस दकियानूसी जीव को तो किसी अजायबघर में स्थान मिलना चाहिए। वास्तव में हमें आवश्यकता है ऐसे सैकड़ों लेखकों तथा कवियों की—जिनका मस्तिष्क भले ही आकाश में हो, पर जिनके पैर ठोस ज़मीन पर हों—जिनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय ही नहीं, बल्कि अखिल मानवीय भी हो; पर जो एक परिमित क्षेत्र में अपनी सारी शक्तियां को केन्द्रित करके आसपास की जनता के लिए ज्ञान तथा संस्कृति के प्रकाशपुंज या 'डाइनेमो' बन जायँ।

साहित्यिक क्या करें?

हमारे पास इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है—"जैसा जिसकी अन्तरात्मा कहे, वह वैसा करे।" यह अपनी-अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य और परिस्थिति पर निर्भर है। पर पूर्णतया सजीव साहित्यिक हम उसी को मानेंगे, जिसकी आत्मा किसी बन्धन में नहीं है, जिसकी कलम को कोई सरकार या संस्था कदापि नहीं ख़रीद सकती, अपनी अन्तरात्मा का आदेश ही जिसके लिए सर्वोपरि है और जो तमाम ख़तरों में पड़कर भी तदनुसार कार्य करता है। हमें श्रम-विभाजन की नीति से और पात्र-भेद का ख़याल करते हुए काम करना चाहिए। वास्तव में हिन्दी लेखकों, कवियों और कलाकारों की जिम्मेवारी इस भारत-भूमि में सबसे अधिक भारी है।

आयरलैण्ड के उस अमर कलाकार और कर्मयोगी ए० ई० के शब्दों को एक बार हम फिर उद्धृत करते हैं—"अर्थशास्त्री हमें दैनिक रोटी दे सकते हैं; पर भावी दिनों के लिए जिस भोजन की ज़रूरत प्रभु ईसा ने बतलाई थी, उसका प्रबन्ध तो कोई दूसरे ही करेंगे। वह कार्य है कवियों का, कलाकारों का, गायकों का और उन वीरतापूर्ण तथा उदारचरित महान व्यक्तियों का, जिनका जीवन नमूने के तौरपर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शों को जन्म दे सकते हैं, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा।

कलाकारों का कर्तव्य है कि वे वांछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करें, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलायें और राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खींचकर रख दें। आयरलैण्ड की विफलता की जिम्मेवारी है हमारे उन कवियों पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से बिल्कुल बिछुड़ गये और जो अपनी-अपनी ढपली पर अलग-अलग अपना-अपना राग छेड़ते रहे, और साथ ही उस विफलता की जिम्मेवारी उन लेखकों पर भी है, जिन्होंने मानव-स्वभाव के महत्व पर ध्यान देने के बजाय उसकी क्षुद्रताओं का ही वर्णन करना उचित समझा!"

क्या उपर्युक्त पंक्तियों में हमारे लिए कोई सन्देश नहीं है? हिन्दी-भाषा-भाषी ग्रामों की संख्या चार लाख से कम न होगी। अब वक्त आ गया है कि हिन्दी लेखक और कवि, गायक और कलाकार आपस में मिलकर इस प्रश्न पर विचार करें कि चार लाख हिन्दी-भाषा-भाषी ग्रामों में, जहाँ जीवन-सरिता की तह (बक़ौल कवीन्द्र) झाड़-झंखाड़ों और कूड़ा-करकटों से भर गई है, किस प्रकार आनन्द और उल्लास की लहर लाई जा सकती है? ओह! कितना महान कार्य और कितना उच्च लक्ष्य है हमारे सामने!